सं० १९८८
पहली बार
५२५०

मुद्रक-प्रकाशक—
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य १) एक रुपया
सजिल्द १।)
सवा रुपया

ॐ
श्रीनन्दनयनानन्दं यशोदानन्दकन्दुकम् ।
गोपीगोपिकागोपं राधानाथं नमाम्यहम् ॥

समर्पण ।

हे कृष्ण ! आपने अपने गीतारूप महोपदेशमें निम्नलिखित आज्ञा दी है कि—

यत्करोपि यदश्नासि यज्जुहोपि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥

जो कुछ कर्म, खानपानादिक, हवन और तप अथवा दान ।
करता है हे कुन्तीसुत ! वे सब अर्पण कर मुझे सुजान ॥

इसीके अनुसार यह जो कुछ मुझसे बन पड़ा है उसे आपके चरणारविन्दोंमें, निष्कामताके साथ, भक्ति-भाव-पूर्वक अर्पण करता हूँ । मुझे दृढ़ आशा है कि आपने इसे अपने ही लोकोपदेशरूपी उद्देश्यका पोषक जानकर अवश्य स्वीकार कर लिया होगा । क्योंकि यह भी तो आपहीका वात्सल्यपूर्ण वचन है कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

पत्र, पुष्प, फल, जल जो मेरे अर्पण करे सभक्ति विनोद ।
प्रयतचित्तके दिये हुए उसको मैं करता ग्रहण समोद ॥

आपका—

राम ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

प्रथमावृत्तिका वक्तव्य

श्रीमद्भगवद्गीता एक अमूल्य रत्न है। यह आर्य धर्मशास्त्रोंका शिरोभूषण तथा भारतीय दार्शनिक विद्याका मूर्धन्य है। ज्ञान, कर्म और भक्तिका अटूट भण्डार है। मुक्तिमार्गका सरल द्वार तथा सत्य ज्ञान-विज्ञानका पारावार है।

गीता-ध्यानमें जो इस अमूल्य ग्रन्थरत्नका आलंकारिक वर्णन हुआ है वह निःसन्देह यथार्थ ही है। यथा—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् जितने उपनिषद् हैं वे मानो गौ हैं, स्वयं श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले ग्वाल हैं, बुद्धिमान् अर्जुन (उस गौको पन्हानेवाला) भोक्ता बछड़ा (वत्स) है, और जो दूध दुहा गया वही मधुर गीतामृत है। ऐसे इस अनुपम ग्रन्थकी महिमा प्राचीन महाभारतसे लेकर लोकमान्य तिलकरचित आधुनिक महान् ग्रन्थ 'गीतारहस्य' तकमें परिपूर्णरूपसे विद्यमान है। हम इस ग्रन्थरत्नको मोक्षदृष्टिसे, ज्ञानदृष्टिसे, भक्तिदृष्टिसे, नीति-धर्म, समाज-धर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य आदि किसी भी प्रकारकी दृष्टिसे क्यों न देखें, यह सब प्रकारसे इस महान् संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये सदैव एक सुदृढ जहाज है। इसके द्वारा लाखों मनुष्य—

क्या एतद्देशीय—क्या परदेशीय पार उतर गये और सर्वदा, जबतक इस संसारका अस्तित्व रहेगा, तबतक इसी प्रकार पार उतरते रहेंगे। सच ही तो कहा है कि—

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः।
गीतानावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः॥

अर्थात्, जो मनुष्य इस घोर संसारसागरसे पार उतरना चाहे, वह इस गीतारूपी नौकामें बैठे, बड़े सुखके साथ पार उतर जायगा। क्योंकि इस नौकाका निर्माण कुछ ऐसा विलक्षण, इसकी शक्ति कुछ ऐसी प्रबल तथा इसका खेवटिया कुछ ऐसा चतुर है कि इसमें आसीन हुए पीछे इस संसारके जटिल सेंवालों, भयंकर भँवरों तथा तरल तरंगोंका कुछ भी भय नहीं रहता। फिर चाहे किंकर्तव्यविमूढताका प्रश्न हो, चाहे कर्तव्याकर्तव्यका पेच पड़ा हो, चाहे धर्माधर्मका झंझट अड़ा हो, चाहे साम्प्रदायिक खेंचातानी हो, चाहे सांख्यादि षट् शास्त्रोंका संघर्षण हो, चाहे द्वैताद्वैतकी दुहाई हो, चाहे आध्यात्मिक और आधिभौतिक पण्डितोंके सिद्धान्तोंकी मनमाई हो, चाहे नई रोशनीका आकर्षण अथवा पुरानी रोशनीका दर्शन हो—कुछ भी हो और चाहे कुछ भी न हो—अपनी सर्वोपनिषद् अवतारिणी सारसारिणी कल्पधेनुका वह अमृत जिसे उस जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने निज ज्ञानद्वारा दुहा है, बस यत्किञ्चित् प्राप्त हो जाना चाहिये, फिर मजाल नहीं कि सत्य, यथार्थ ज्ञान, धर्म, नीति, श्री, विजय तथा सच्चा वैभव, क्या यहाँ और क्या वहाँ, हाथ जोड़े सम्मुख न खड़े रहें। यह सिद्धान्त कुछ हमारा मनगढ़न्त नहीं है, प्रत्युत हमारे पूर्व पुरुषोंका परम्परासे यही सिद्धान्त चला आता है और आगे भी, हमें दृढ़ आशा है कि हमारे वंशजों तथा पाठकोंका यही सिद्धान्त रहेगा।

महाभारत-संहितामें जो विषय भीष्मपर्वकी पचीसवीं अध्यायसे लेकर बयालीसवीं अध्यायतक कहा गया है उसको ही श्रीमद्भगवद्गीता

कहते हैं—इन कुल अठारह अध्यायोंका नाम ही गीता है। तैंतालीसवें अध्यायके प्रारम्भमें जनमेजयको इस गीताकी उत्तमताके विषयमें वैशम्पायन यों कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
गीता गंगा च गायत्री गोविन्देति हृदिस्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थात् जो गीता साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दके मुखारविन्दसे प्रकट हुई है ऐसी उस गीताको भलीभाँति पढ़ना चाहिये। ऐसा कर लेने-पर फिर अन्य शास्त्रोंके पढ़नेका कुछ प्रयोजन नहीं रहता। जिस प्रकार मनु सकल वेदमय है, गङ्गा सब तीर्थमय है और हरि सर्वदेवमय है, इसी प्रकार यह गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द ये चार 'गकार' युक्त नाम जिसके हृदयमें हों उसका पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसे इस अनुपम ग्रन्थरत्नका प्रकाश, इसका प्रताप और वैभव भारतवर्षकी क्या चलाई सारे भूमण्डलमें फैला हुआ है। विद्वानोंका मत है कि पिण्ड, ब्रह्माण्ड और आत्मविद्याके गूढ़ तत्त्वोंको थोड़ेमें परन्तु स्पष्टताके साथ इस प्रकार समझा देनेवाला गीता-जैसा अलभ्य ग्रन्थ संस्कृतकी कौन कहे संसारके किसी भी साहित्यमें नहीं मिल सकता। इसकी उत्तमता, सर्वोत्कृष्टता तथा उपयोगिता इसहीसे सिद्ध होती है कि ऐसी कोई भाषा इस भूमण्डलपर नहीं है कि जिसमें इस गीताका अनुवाद न हुआ हो और न कोई धर्म ही ऐसा है कि जिसके अनुयायी किसी-न-किसी अंशमें इसके अनुवर्ती न हुए हों। भारतवर्षमें

इस गीतापर संस्कृतमें ७२ टीकाएँ होना सुना जाता है। कई सौ अनुवाद तथा टीकाएँ भारतकी अन्यान्य भाषाओंमें होना माना गया है और १०० से ऊपर केवल हिन्दीभाषामें अनुवाद, व्याख्या अथवा दोनों मिलाकर पाये जाते हैं। जब कि बहुत-से अनुवाद—छन्दोऽनुवाद भी हिन्दीभाषामें पहिलेसे ही उपस्थित थे, तब मेरे इस नवीन अनुवादकी क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर स्वयं यह अनुवाद ही देगा। जितने छन्दोऽनुवाद अबतक हुए हैं उनके विषयमें कुछ न कहकर मैं इतना ही निवेदन कर देना उचित समझता हूँ कि सहृदय पाठकवृन्द जहाँ-तहाँसे इस अनुवादकी दूसरे अनुवादोंसे तुलना करें। और अवश्य करें। आशा है कि ऐसा होनेसे पाठकवृन्द स्वयं ही मेरे इस अनुवादपर सन्तोष प्रकट करेंगे।

दूसरे, जितने कुछ छन्दोऽनुवाद आजतक मेरे देखनेमें आये हैं उनको किसी-न-किसी अंशमें साम्प्रदायिक खींचातानीमें पड़ना ही पड़ा है। इससे कोई महानुभाव यह न समझ लें कि मेरा यह अनुवाद किसी निराली और नूतन सम्प्रदायका द्योतक है और न इससे मेरा यही अभिप्राय है कि मैं साम्प्रदायिक अनुवादों तथा भाष्योंको बुरा समझता हूँ। कभी नहीं, जितने साम्प्रदायिक अनुवाद हैं सब उत्तम हैं। मेरा अभिप्राय तो ऐसा कहनेसे केवल यह है कि मैंने यह अनुवाद किसी साम्प्रदायिक अनुवादका आश्रय लेकर नहीं किया है। अपनी अल्प बुद्धिके अनुसार, किसी भी पक्षका अवलम्बन न लेकर, जहाँतक हो सका है इस अनुवादको सरल भाषामें या आजकलके फैसनके अनुसार यों कहना चाहिये कि 'खड़ी बोली' में आबाल वृद्ध, स्त्री, पुरुष सबके समझने-योग्य बनानेका उद्योग किया है। किसी मुख्य सिद्धान्त या पन्थकी पुष्टिके लिये यह अनुवाद नहीं हुआ है। अब आगे मैं इसमें कहाँतक सफल हुआ हूँ यह बात सहृदय पाठकवृन्दोंपर अवलम्बित है। वे देखें कि मैं कहीं अपनी प्रतिज्ञासे पराङ्मुख तो नहीं हो गया हूँ।

यहाँपर मैं यह कहे विना भी नहीं रह सकता कि यद्यपि इस अनुवादके करनेमें मैंने सीधी-सादी भाषाहीका प्रयोग किया है। कठिनता—क्लिष्टता न आने देनेका यथामति और यथासम्भव उद्योग किया है। परन्तु फिर भी सम्भव है बहुत-से स्थलोंपर बहुतोंको क्लिष्टता ज्ञात हो। इसका दोष, ऐसे पाठक, यदि अनुवादकके शिर मँढ़ना चाहें तो मँढ़ सकते हैं। तो भी ऐसे दोष देनेवालोंको प्रथम यह समझ लेना चाहिये कि यह अनुवाद है, आखिर यह अनुवाद ही रहेगा। और अनुवाद भी फिर किसका, गीता-जैसे ग्रन्थका, किसी काव्यका नहीं। दूसरे ऐसे महानुभावोंको यह भी जान लेना चाहिये कि क्लिष्टता या कठिनता कहते किसे हैं? जो शब्द, मुहाविरे या वाक्य एक मनुष्यके लिये सरल या अत्यन्त सीधे हो सकते हैं वे ही दूसरेके लिये क्लिष्ट और न समझनेके योग्य हो सकते हैं। क्योंकि क्लिष्टता और सरलता—समझना वा न समझना—पाठकोंके भाषा-ज्ञानकी न्यूनाधिकतापर अवलम्बित रहता है।

यह युग हिन्दीभाषाकी उन्नति और परिष्कारका है। सब ओर गद्य-पद्यके सुधारने तथा निखारनेपर चढ़ाई है। अपनी मातृभाषाके भण्डारको उत्तमोत्तम रत्नोंसे परिपूर्ण करनेके लिये हमारे देशके अनेक विद्वद्रत्न बद्धपरिकर हैं। आशा है इस सेतु-बन्धके महासमारम्भके समय एक चपल बालकके लाये हुए लघु काष्ठखण्डकी भाँति मेरी भी इस क्षुद्र सेवाको विद्वद्वृन्द सेतु-विद्यावित् महाशिल्पियोंके समान अनुरागपूर्ण दृष्टिसे देखेंगे। यद्यपि मुझ अल्पज्ञके लिये गीता-जैसे गूढ़ ग्रन्थका अनुवाद करना 'अनधिकार'-चेष्टाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, तो भी मैं इसको अनधिकार चेष्टा नहीं मानता, क्योंकि, न्यायदृष्टिसे देखा जाय तो गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका 'अधिकार' मनुष्यमात्रको है। इसे सब कोई पढ़ सकते हैं, यथामति अनुवाद भी कर सकते हैं, अपनी योग्यता-अनुसार टीका भी कर सकते हैं। जब कि ऐसा है, तो

वाचकवृन्दोंको भी इसे मेरी अनधिकार चेष्टा न मानना चाहिये। इस-पर भी यदि ऐसा ही समझा जाय तो गीता-माहात्म्यके—

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित् कौन्तेय एव च।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः॥

इस श्लोकके अनुसार जितने अनुवाद, जितने भाष्य आजतक हुए हैं वे सब ही अनधिकार चेष्टाएँ हैं। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त पूर्णतया इस ग्रन्थका आशय कोई समझनेवाला ही नहीं है। इनके बाद यत्किञ्चित् समझते हैं तो नरोत्तम अर्जुन, व्यासदेव, शुकदेव मुनि, ऋषि याज्ञवल्क्य तथा विदेह जनक ये जानते हैं। जब ऐसा है तो यह अनुवाद भी इससे पहिलेके सकल अनुवादोंके साथ-साथ अनधिकार चेष्टा ही समझा जावे इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं।

यह अनुवाद जो इस समय आपके सम्मुख उपस्थित है दुवारा किया गया है। दुवारासे मेरा यह अभिप्राय है कि पहिले सन् १६१६ के अन्तमें मैंने दोहा-छन्दोंमें एक अनुवाद समाप्त कर लिया था। परन्तु कुछ विद्वान् मित्रोंकी उस समय यह राय हुई कि प्रथम तो यह छन्द छोटा होनेसे मूलका आशय लानेके लिये कई शब्द तोड़-मरोड़कर बिठलाने पड़े हैं। यह बात आजकलकी रूढ़िके विरुद्ध है। दूसरे इसकी भाषा मिश्रित है, यह भी आजकलकी शैलीके अनुसार नहीं, इत्यादि इत्यादि त्रुटियोंके उपस्थित हो जानेसे मैंने उक्त सम्पूर्ण किये हुए और प्रेसकापी लिखे हुए अनुवादको लपेटकर धर दिया, और उसी समय यह दृढ़ प्रण कर लिया कि इसका अनुवाद आजकलकी शैलीके अनुसार अवश्य करना चाहिये। सुतराम्, एक वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १६२० के फरवरी मासमें, मैंने इसको फिर दुवारा करना प्रारम्भ किया, और आठ-दस महीनेके लगातार परिश्रमसे इसे सम्पूर्ण कर सका। मुझे यह आशा नहीं थी कि

मैं इसे इतना शीघ्र समाप्त कर लूँगा, परन्तु उस जगदाधार जगदीश्वरके कृपाकटाक्षसे मैं इसे इतना शीघ्र समाप्त करनेमें समर्थ हुआ। इसका मुझे विशेष आनन्द है।

अनुवादमें विशेषकर गीता-जैसे ग्रन्थके छन्दोऽनुवादमें जो-जो कठिनाइयाँ हुई हैं उनको वे ही महानुभाव जान सकते हैं जिन्हें कभी ऐसा अवसर प्राप्त हुआ है। संस्कृतरचनामें तुकान्तका नियम न होनेसे जो स्वतन्त्रता रहती है, भाषामें वैसी नहीं रहती। दूसरे विभक्ति-चिह्न भी भाषामें अवश्य ही आने चाहिये, इत्यादि इत्यादि नियम ऐसे हैं जो भाषा छन्दोऽनुवादमें अवश्य ही निभाने पड़ते हैं। जो कवि हैं, प्रतिभासम्पन्न हैं, उनको भले ही ये सब कठिनाइयाँ छन्दोऽनुवाद-में न खटकें, परन्तु मैं न तो कवि ही हूँ, न प्रतिभासम्पन्न ही, मेरेलिये तो ये बातें, ऐसे नियम, बहुत कुछ प्रतिबन्धक हो सकते हैं।

मैं अपने गुरु श्रीयुत 'विद्यावाचस्पति' पण्डित मधुसूदनजी महाराजको कहाँतक धन्यवाद दूँ कि जिन्होंने मेरे हृदयमें अध्यात्म-मार्गकी रुचि पैदा की। यह आपकी ही कृपाका फल है कि मुझे गीतासे यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त हुआ। आपने जो समय-समयपर अध्यात्म-विषयोंको न समझाया होता तो मैं शायद ही इस अनुवादके करनेमें फलीभूत होता।

साथ ही मैं व्याकरणाचार्य न्यायशास्त्री पं० सूर्यनारायणजी गौड़, तथा साहित्यशास्त्री-'कविभूषण'-पण्डित श्रीहरिनारायणजी दाधीचको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि इन दोनों महाशयोंने समय-समयपर मुझे इसके संशोधन किंवा मूलसे अनुवादको मिलानेमें बहुत कुछ सहायता दी है। यहाँतक कि उक्त साहित्यशास्त्रीजीने तो अपने पठन-पाठनके अमूल्य समयकी भी परवा न करके इसके संशोधन-में विशेषरूपसे सहायता दी है अतः मैं इनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। इसके

अतिरिक्त जान या अजानमें जिन-जिन महानुभावोंके भाष्य, अनुवाद तथा टिप्पणियोंसे मुझे सहायता मिली है उन सबका भी मैं आभारी हूँ।

यद्यपि इस लेखनीसे साहित्यके अन्य अङ्गोंमें मातृभाषाकी रचना-रूपी अर्चना हुई है, परन्तु इस अध्यात्मराज-मार्गमें तो प्रथम ही इस लेखनीने साहस किया है, अतः जो कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों वे सब क्षन्तव्य हैं। इसके अतिरिक्त यह भी एक हर्षका विषय है कि यह विनीत अनुवादक उस जातिमें होनेका गौरव भी रखता है कि जिस जातिके आदि पुरुषोंमें महाभारतसंहिताके कर्ता तथा वेदोंके सम्पादक महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासदेव थे। हमारी वंशपरम्परा चिरकालसे गीताको अपना इष्ट मानती चली आती है। यह मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे अनेक कारणोंसे इस चिन्तामणिकी चमत्कृतिसे अन्तरंग और बहिरंग तमोमय आवरण निवारणका अवसर मिला। मेरा यह कहना तो छोटे मुँह बड़ी बात समझा जायगा कि इस अनुवादसे ऐसा ही अवसर वाचकवृन्दोंको भी प्राप्त होगा, परन्तु तो भी मैं यह कह सकता हूँ कि उनकी सेवाके मनोरथसे मेरी उक्त स्वार्थसिद्धि हुई।

दीपमालिका, कार्तिक,	
विक्रमाब्द १९७७।	विनीत
जयपुर, राजपूताना।	पुरोहित रामप्रताप।

॥ श्रीः ॥

द्वितीयावृत्ति-निवेदन

सन् १६२१ में इस "कृष्ण-विज्ञान" का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। पूरे दस वर्ष पश्चात् यह दूसरा संस्करण अब प्रकाशित हो रहा है। उस पहिलेवाले संस्करणमें अनुवादके साथ मूल श्लोक नहीं दिये गये थे। यह उसमें एक बड़ी भारी त्रुटि थी। क्योंकि यह एक स्वाभाविक बात है कि किसी संस्कृत-छन्दका भाषा-छन्दमें अनुवाद पढ़कर, पाठकके हृदयमें यह इच्छा सहज ही उत्पन्न हो जाती है कि देखें, मूलसे इसका मिलान किया जाय। यदि मूल अनुवादके साथ नहीं होता है तो पाठकको बड़ी असुविधा होती है। आश्चर्य नहीं बहुतोंको ऐसी दशामें क्रोध तक उत्पन्न हो जाता हो। किन्तु मूल साथमें रहनेसे यह नहीं होता। प्रत्युत पाठकोंको—ऐसा होनेसे—ऐसे अनुवाद-ग्रन्थके पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता है। साथ ही इच्छाकी पूर्ति अचिरात् हो जानेसे बहुत कुछ मनोरञ्जन भी होता है।

इस संस्करणमें, योग्य प्रकाशकने इसी बातपर दृष्टि रखते हुए, अनुवादके साथ मूलको भी स्थान दे दिया है। और इस खूबीके साथ दिया है कि मिलान करनेमें पाठकको किसी प्रकारकी अड़चन नहीं हो सकती। दूसरे, यदि किसीको केवल अनुवाद या केवल मूलहीका पाठ करना अभीष्ट हो तो बिना किसी असुविधाके वह ऐसा भी कर सकता है।

इस संस्करणमें अनुवादके छन्दोंमें कहीं-कहींपर परिवर्तन तथा परिवर्धन किया गया है। मैं यहाँपर श्रीयुत हनुमानप्रसादजी पोद्दार (कल्याण-सम्पादक) को अवश्य धन्यवाद दूँगा कि जिन्होंने अपनी अमूल्य सम्मतियोंद्वारा इस अनुवादके सुधारमें सहायता दी है। यह आपहीके सद्परामर्शका फल है कि यह अनुवाद अब और भी सुन्दर हो चला है। आशा है पाठकवृन्द भी इसे ऐसा ही पावेंगे।

यह गीताका अनुवाद (कृष्ण-विज्ञान) गीताप्रेससे प्रकाशित हो रहा है, इसका बहुत कुछ श्रेय 'माधुरी'-सम्पादक श्रीयुत रामसेवकजी त्रिपाठीको है। अतः वे सर्वथा धन्यवादके योग्य हैं।

१३।१।३२ }

पु० रामप्रताप

द्वितीयावृत्तिका परिचय
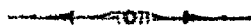
'श्रीकृष्ण-विज्ञान' श्रीमद्भगवद्गीताका सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद है। इसके अनुवादक जयपुरराज्यके एक प्रतिष्ठित, विद्याप्रेमी रईस—पुरोहित श्रीरामप्रतापजी महोदय हैं। आप विद्वान् और साहित्यप्रेमी हैं। आपने ज्योतिषका भी अच्छा अध्ययन किया है। पुरोहितजी गुणीजनोंका आदर करनेवाले, विनम्र एवं निरभिमानी व्यक्ति हैं। आपका अधिकांश समय साहित्य-परिशीलनमें ही व्यतीत होता है। संक्षेपमें यह कह दिया जावे तो अधिक उपयुक्त होगा कि आपपर सरस्वती और लक्ष्मी दोनोंकी कृपा रहती है। ऐसा संयोग आजकल बहुत कम दिखायी देता है।

कुछ समय हुआ जब पुरोहितजीके सुपुत्र, हिन्दीके परिचित सुकवि कुमार श्रीप्रतापनारायण (कविरत्न) ने 'श्रीकृष्ण-विज्ञान' के प्रथमावृत्तिकी एक प्रति मेरे पास इसलिये भेजी कि मैं उसे एक बार ध्यानसे पढ़ जाऊँ। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि प्रथम संस्करणको समाप्त हुए बहुत दिन हो गये। इसके पहले मुझे इस पद्यानुवादसे विशेष परिचय प्राप्त करनेका सुयोग नहीं मिला था। हाँ, अपने दो-तीन मित्रोंसे कुछ स्फुट पद्य जरूर सुने थे और हिन्दीके प्रकाशक मेरे एक मित्रने मुझे यह भी बतलाया था कि उन्होंने इन पद्योंको इतना पसन्द किया

कि अपने गाँवके निजी मन्दिरमें पत्थरोंपर खुदवाकर लगवा दिया है। ख़ैर, मैंने अनुवादको आद्योपान्त पढ़ा और मुझे कई दृष्टियोंसे वह बहुत पसन्द आया। मैंने 'माधुरी' में एक परिचयात्मक नोट भी लिखा और कुछ पद्य भी नमूनेके तौरपर दिये। इसी बीचमें मुझे पुरोहितजीका एक पत्र मिला, जिसका आशय यह था कि यदि कहींसे इस पुस्तकका सस्ता और सुन्दर संस्करण, प्रचारकी दृष्टिसे, निकल सके तो बड़ा अच्छा हो। चूँकि पुरोहितजी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक हैं और यह अनुवाद भी उन्हींके चरणोंमें श्रद्धाके दो पुष्प चढ़ानेके लिये किया गया था इसलिये उनके हृदयमें केवल यही इच्छा थी कि कर्मयोगी श्रीकृष्णका अमृतमय सन्देश घर-घर फैले। प्रकाशनमें सौदेका प्रश्न था ही नहीं। इधर मैंने भी यह सोचा कि भारत-के साधारण जनसमूहसे यह ज्ञान प्रायः लुप्त हो गया है या हो रहा है। व्रजवासी श्रीकृष्णसे जितना लोग परिचित हैं उतना कुरुक्षेत्रके अखण्ड तेजधारी कर्मयोगी श्रीकृष्णसे नहीं। और यही कारण है कि हम प्रायः अपने स्वरूपको भूलकर पथभ्रष्ट हो रहे हैं। ऐसी दशामें सम्भव है कि इस सुन्दर हिन्दी पद्यानुवादसे जन-साधारणको, विशुद्ध-मार्ग-परिशोधनमें, कुछ सहायता मिले। मैंने अपने सुयोग्य मित्र श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार–सम्पादक कल्याण–को इसी आशयका एक पत्र लिखा और पुस्तकको उनके पास देखनेके लिये भेज दिया। पोद्दारजी तथा गीता-प्रेसने धार्मिक-जगत्के लिये जो सेवाएँ अर्पित की हैं, उनकी कौन

सराहना नहीं करेगा। कुछ समय बाद मुझे पोद्दारजीका पत्र मिला, जिसमें उन्होंने अनुवादको सहर्ष और शीघ्र प्रकाशित करनेकी बात लिखी थी।

'श्रीकृष्ण-विज्ञान' का यह वही द्वितीय संस्करण है जिसकी मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ। पहले और दूसरे संस्करणमें, अनुवादका जहाँ तक सम्बन्ध है, कोई विशेष उल्लेखयोग्य उलट-फेर नहीं किया गया है। हाँ, इसमें एक विशेषता यह जरूर कर दी गयी है कि अनुवादित पद्योंके साथ मूल संस्कृत-श्लोक भी दे दिये गये हैं। और मेरे विचारसे यह बहुत उत्तम कार्य किया गया। इससे न केवल पाठकोंको मूल श्लोकसे परिचित होनेका सुयोग ही मिलेगा, बल्कि अनुवादकी सफलतापर भी अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

पुरोहितजी मेरे आदरणीय मित्र हैं इसलिये उनके अनुवाद-के सम्बन्धमें अधिक कुछ कहना ठीक नहीं जँचता। फिर भी इतना कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं है कि खड़ी बोलीके इन छोटे-छोटे पद्योंमें, मूल श्लोकके भावों और अर्थोंकी जिस कुशलतासे रक्षा की गयी है, वह प्रशंसनीय है। अनुवादके लिये सबसे बड़ी सफलता यही है कि वह मूल ग्रन्थके भावोंको बिना तोड़-मरोड़के जनताके सामने रखनेमें समर्थ हो। मूल ग्रन्थके न पढ़नेपर भी अनुवादमें मौलिकताकी एक छाप-सी जान पड़े। मेरा यह तुच्छ विचार है कि पुरोहितजीने इस कार्यमें

सराहनीय सफलता प्राप्त की है। अब इस पुस्तकका प्रकाशन भी उपयुक्त स्थानसे हुआ है और मुझे यह पूर्ण आशा है कि हिन्दी-संसारमें इसका यथेष्ट आदर एवं प्रचार होगा।

यह कार्य तो गीता-प्रेससे होना ही था। गीताज्ञानके सर्वस्व श्रीकृष्ण महाराजकी यही इच्छा थी। मैं तो नाममात्रका 'निमित्तमात्र' बनकर उन्हींकी इच्छासे इतनी पंक्तियाँ लिखनेकी धृष्टता कर बैठा। नहीं तो, मेरे-जैसे अयोग्य और तुच्छ मनुष्यको 'श्रीकृष्ण-विज्ञान' का परिचय करानेका अधिकार ही क्या? ख़ैर—

'हम भी राज़ी हैं उसीमें जो रज़ा है तेरी।'

नरही रोड,
लखनऊ।
ता० २९ जनवरी १९३२

रामसेवक त्रिपाठी
['माधुरी'—सम्पादक]

प्रकाशकका निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता संसारका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यद्यपि भगवान्की इच्छासे आजकल गीताका खूब प्रचार हो रहा है और यह बड़े ही आनन्दकी बात है, तथापि जबतक ग्रन्थ-प्रचारके अनुसार लोगोंके जीवन-पर और उनकी क्रियापर गीताके उपदेशोंका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ता तबतक वास्तविक प्रचार नहीं समझा जाता। आजकल विद्वान्-अविद्वान्, स्त्री-पुरुष, सभी श्रेणीके लोग गीता पढ़ते हैं परन्तु उनमें अधिक संख्या उन्हीं लोगोंकी है जो अर्थपर ध्यान न रखकर केवल पाठ करते हैं। गीता-पाठ महान् पुण्य है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु अर्थपर ध्यान रखने और तदनुसार बर्तनेसे जो फल-लाभ होता है वह कुछ विलक्षण ही है। अर्थका ध्यान तब रहता है जब बारम्बार उसका मनन किया जाय; मनन करनेके लिये अर्थके याद रहनेकी आवश्यकता होती है, संस्कृत न जाननेवाले लोग मूल श्लोक याद भी कर लें तो इससे उन्हें अर्थका ज्ञान नहीं होता। हिन्दीमें अर्थ बहुत छपे हैं, परन्तु गद्यको याद रखना अत्यन्त कठिन है, यदि वही अर्थ पद्योंमें हो तो उसे याद रखना सहज होता है, इसी दृष्टिसे गीताप्रेसकी ओरसे गीताका एक पद्यानुवाद निकालनेका विचार बहुत दिनोंसे हो रहा था। आज ईश्वरकी दयासे वह पूर्ण हो गया। यह बड़े आनन्दकी बात है।

गीताका अर्थ समझना ही कठिन है फिर उसे सर्वसाधारणके सामने अपनी भाषामें रखना तो और भी कठिन है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि लेखकने इस अनुवादमें श्लोकोंका सरल अर्थ बिना ही खींचतान लोगोंके सामने रखनेकी पूरी चेष्टा की है। ग्रन्थकी भाषा सुन्दर और सहज है। पाठकगण इसे पढ़, कण्ठस्थ कर और तदनुसार आचरणकर लेखक महोदयके परिश्रमको सफल करें यही प्रार्थना है।

—प्रकाशक

सम्मतियाँ

इस अनुवादके पूर्ण होनेपर मैंने इसे बहुत-से विद्वानोंकी सेवामें अवलोकनार्थ भेजा। उन्होंने इसे देखकर अपनी-अपनी विद्वत्तापूर्ण सम्मतियाँ प्रदान कीं। अतः मैं उन महानुभावोंकी ऐसी कृपाका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। उनमेंसे कुछ सम्मतियाँ मैं इस अनुवादके साथ प्रकाशित करता हूँ। आशा है कि पाठकवृन्द इसे मेरी आत्मश्लाघा न समझकर यही समझेंगे कि मैं अकृतज्ञ न कहलानेके लिये ही ऐसा कर रहा हूँ।

—अनुवादक

जयपुर कौन्सिलके मेम्बर पुरोहितकुलभूषण रायबहादुर श्रीमान् पं० गोपीनाथजी एम्., ए. सी. आई. ई. की सम्मति।

श्रीकृष्ण-विज्ञानको पढ़ा। यह एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। गीताके अनेक हिन्दी-अनुवाद देखे गये। वे सब साम्प्रदायिक हैं और कृष्ण-विज्ञान पूर्णरूपसे पक्षपातरहित है और यही इसका उत्तम गुण है। अन्यान्य अनुवादोंमें यह भी देखा गया है कि, अनुवादक जहाँपर मूल श्लोकके आशयतक नहीं पहुँचे वहाँपर अनुवाद या तो सर्वथा मूलके विरुद्ध या पूर्ण निरर्थक है। इसके अतिरिक्त बहुधा अनुवाद मूलसे न्यूनाधिक भी हैं। श्रीकृष्ण-विज्ञान इन त्रुटियोंसे रहित है। हिन्दीके पद्यमय अनुवाद अबतक जो मेरे देखनेमें आये हैं वे मिश्रित भाषामें हैं। केवल श्रीकृष्ण-विज्ञान ही आजकलकी खड़ी प्रचलित भाषामें देखा गया है। इस अनुवादको जहाँ-तहाँसे मैंने मूल ग्रन्थसे मिलाया है और सर्वथा याथातथ्य पाया है। एक श्लोकका अनुवाद एक ही छन्दमें किया गया है और जहाँतक हो सका है मूलसे न्यूनाधिक शब्दोंका प्रयोग कहीं नहीं किया है। यह अनुवाद यद्यपि पूर्णरूपसे समश्लोकी अनुवाद तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि मूल और अनुवादके छन्दोंमें बहुत अन्तर

है। तथापि श्रीकृष्ण-विज्ञानको समश्लोकी अनुवाद भी कहूं तो अनुचित न होगा, क्योंकि मूलके छोटे श्लोकका अनुवाद आजकलकी खड़ी बोलीके छोटे छन्दमें और बड़े छन्दका बड़े छन्दमें बहुत सुन्दर और प्रशंसनीय रीतिपर किया गया है। गीता-जैसे धर्मशास्त्र, कर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और विज्ञानशास्त्रका अनुवाद सहज बात नहीं। तिसपर भी खड़ी बोलीमें और ऐसे सरस और सुललित छन्दोंमें गीताका समश्लोकी अनुवाद और भी महाकठिन कार्य है। श्रीकृष्ण-विज्ञानके विधाता इस महाकठिन कार्यमें पूर्णरूपसे कृतकार्य हुए हैं। मेरी सम्मतिसे प्रकृत हिन्दीके उत्तमोत्तम ग्रन्थभण्डारमें श्रीकृष्ण-विज्ञान भी एक अनुपम रत्न है। जिसके पठन, पाठन और मनन करनेसे मनुष्यमात्रके लिये धर्मार्थकाममोक्षकी सिद्धि सुलभ हो जाती है।

६।१२।२० गोपीनाथ।

जयपुर संस्कृत कालेजके अध्यक्ष महामहोपाध्याय पूज्यपाद पण्डितवर श्रीदुर्गाप्रसादजीकी सम्मति।

श्री ६ कृष्णघनरसोऽर्जुनसुमनोयोगो वर्षासमय इवायं कवि-भूषणश्रीरामप्रतापपुरोहितविरचितो गीताहिन्दीपद्यानुवादः प्रतिपदं विलोकयतां प्रमोदजनकोऽजनीति मन्यते— भवति चात्र श्लोकः।

संदृब्धो वर्णगुम्फैर्मधुरिमपृषतान्कर्णयोरर्पयद्भिः
कृष्णासक्त्येव कृष्णैरपि विमलतरैः शब्दतश्चार्थतश्च।
श्रीमद्रामप्रतापाभिधकवितृकृतिः सौंदर्यसद्मैष गीता-
हिन्दीपद्यानुवादोऽमृतमिति सुधियो! वक्ति दुर्गाप्रसादः॥१॥

श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी।

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति
पण्डितवर श्रीमधुसूदनजी झा की सम्मति।

रुचिरार्थभूः[1] प्रसादप्रगुणा वरवृत्तवन्धरमणीया।
रामप्रतापनीता गीता सीतेव सुमनसां मान्या ॥१॥

परिदर्शितदार्शनिककलानिलये निखिलेऽपि विद्वांवलये भारत-गौरववाहिनीं को वा न जानीयादक्षरमुखः श्रीमतीं गीताम्। एतदवधि संधारितनानावाग्वेषा नूनमेषा चमत्कृतवती निजगुणगरिमभिरशेषानपि देशान्। परमद्यत्वे दर्शितानर्घगुणाभ्युदयेन पुरोहितप्रवरश्रीरामप्रतापमहोदयेन सरसमनूदिता सेयं गीता निकाममानन्दयति मानसमस्माकम्। मौलिकार्थाभिरोचनरुचिरा च सरलहिन्दीछन्दोवन्धवन्धुरा च दर्शितभाषाशैलीसौष्ठवा च सेयमवश्यमानन्दयेदिह हिन्दीभाषानुरागिणः सहृदयान्। प्रथमतो विषय एव दर्शनानां गहनतमो नाम, ततोऽपि स्वल्पैरक्षरैर्वहुलमर्थमभिव्यञ्जयन्ती भारतविजयवैजयन्ती सेयं गीता। तस्या अपि एतादृशे सरले छन्दसि समुपनिवन्धनं नाम, तदिदमवश्यं कठिनमेव कार्यम्। अवलोक-

---

१ गीतापक्षे, हृदयग्राहिणामर्थानां भूमिः, अक्लिष्टपदपदार्थविन्यासात् प्रसादगुणोपेता। उत्तमछन्दोवन्धतः सुपाठ्या। रामप्रतापशर्मणा कृतेन अनुवादेन गृहीतार्था। सुमनसां विदुषामदुष्टप्रकृतीनां च आदरणीया। सीतापक्षे—देवाभिलषितार्थानामुत्पादिका, अनुग्रहप्रधानवृत्तिः सच्चारित्र्यवन्धतः श्लाघ्या। रामस्य दाशरथेः प्रतापे न समानीता सुमनसां देवानामाराध्या ॥

यामोऽस्मिन्ननुवादे नार्थस्य विस्तरम्, न च भावस्य कस्यचन परित्यागम् ।

यावदपेक्षितमर्थमौचित्योपपन्नया प्रसन्नया भाषया समुपनिबद्धवान् सोऽयम् । कमलावैभवानुषङ्गतः सुलभसत्कार्यालस्यप्रसङ्गस्यापि श्रीलस्य श्रीरामप्रतापमहोदयस्य तदेतस्मिन् गहने कर्मणि सत्प्रवृत्तिमवश्यमन्तरतोऽभिनन्दामस्तमाम् । एवंविधेन हि कर्मणाऽस्य विद्यावैभवानुषङ्गतो विद्यानुरागिसमाजेऽप्युदारा यशोविस्तारा बहुसत्काराश्च नानाराधिताः स्युरन्ये च शुभोदर्का भविष्यन्ति ॥

पुराणैस्तैरष्टादशभिरिह येऽर्थाः परिचिता
जये[1] तेऽर्था अष्टादशभिरुदिताः पर्वभिरपि ।
ततोऽध्यायैरष्टादशभिरिह तत्सार उदितो
निबध्नन् गीतार्थं तमनुभजते को नहि जयम् ॥

श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिः ।
जयपुरस्थः ।

---

१ जयशब्देन भारतजयाभिधानो महाभारतग्रन्थो विवक्षितः । तत्र हि भरतान् कुरून् प्रति भारतेनार्जुनेन लब्धो जयो वर्ण्यते । अपि च कटपय गणनाया जकारेण अष्ट संख्याया, यकारेणैकसंख्याया लाभादष्टादशपर्वात्मकं महाभारतं लक्ष्यते । अत एव ततो जयमुदीरयेत् इत्यादौ भारतविवक्षया जयपदं प्रयुज्यते तत्र भारतमित्युपलक्षणम् । अष्टादशधा विभागोपेतानां पुराणगीतादीनामपि समानन्यायाज्जयशब्देन ग्रहीतुं शक्यत्वात् । अत एव गीतार्थाभिनिविष्टस्य तत्र निबन्धकर्तुर्विदुषोऽखिलपुराणाभिप्रायेषु महाभारततात्पर्यार्थेषु च सुलभः प्रवेश इत्यभिप्रायेणाह जयमनुभजते इति जयमुत्कर्षं भजते—इति च श्लेषः ।

हिन्दीके प्रसिद्ध आचार्य, 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी सम्मति।

श्रीमद्भगवद्गीताके इस छन्दोबद्ध हिन्दी-अनुवादके कई अध्याय मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े। गीताका विषय बड़ा गहन है। इसीसे उसकी ग्रन्थियाँ सुलझानेके लिये, आजतक अनेक विस्तृत व्याख्याओंकी रचना हो चुकी है। ऐसे गहन शास्त्रका सरल हिन्दीमें पद्यात्मक अनुवाद कर देना सबका काम नहीं। पर इस अनुवादके कर्त्ता पुरोहित रामप्रताप-जीको इस काममें विशेष सफलताकी प्राप्ति हुई है। उन्होंने गीताके मुख्य भावार्थको बड़े सरल शब्दोंमें व्यक्त किया है। मूलका मतलब न छोड़ते हुए उन्होंने ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं कि गीताका आशय समझनेमें कठिनाई नहीं होती। देखिये—

मर जानेसे स्वर्ग मिलेगा जय होनेसे भूतलराज।
इससे निश्चय ही भारत! तू हो जा खड़ा युद्धको आज॥
विजय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःख सभीको जान समान।
फिर प्रवृत्त हो जा तू रणमें पाप नहीं होगा मतिमान!॥

एक तो भाषा बोलचालकी; दूसरे सरल और सुन्दर शब्दोंका प्रयोग; फिर मूल ग्रन्थके मुख्यार्थका यथेष्ट सन्निवेश। बस, अनुवादमें और चाहिये क्या? अतएव मेरी सम्मतिमें यह अनुवाद संग्रहणीय ही नहीं, आदरणीय भी है। हिन्दीमें किये गये जितने गीतानुवाद मेरे देखनेमें आये हैं उन सबकी अपेक्षा यह अनुवाद अधिक सरस, सरल और भावव्यञ्जक है।

४ मई १९२१

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

स्व० पण्डितवर श्रीचन्द्रधर शर्माजी गुलेरी बी० ए० की सम्मति ।

ब्लैकीने लिखा है कि बालकके लिये उपन्यासोंको पढ़नेकी अपेक्षा यह बहुत अच्छा है कि किसी ग्रीक या लाटिन-पद्यका चुस्त अंगरेजी छन्दमें अनुवाद ही किया जाय । पुरोहित रामप्रतापजीने उपन्यास पढ़ना छोड़ा हो या न छोड़ा हो, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीताके भावपूर्ण श्लोकोंका बोलचालकी हिन्दीमें बहुत अच्छा अनुवाद तो कर डाला है । अनुवाद बहुत सुपाठ्य है, मूलके प्रकृत अर्थको ठीक-ठीक दर्शाता है । सम्बोधन और विशेषणके कुछ पदोंको छोड़कर, जिन्हें छन्द, भाषा और तुकान्तके अनुरोधसे बदले बिना काम ही नहीं सरता, इसके लिये वही कहा जा सकता है जो सोमदेव भट्टने गुणाढ्यकी बृहत्कथा और अपने कथासरित्-सागरके लिये कहा है कि—

यथा मूलं तथैवेतन्न मनागप्यतिक्रमः ।

और भाषान्तरोंके लक्ष्य और इस अनुवादके लक्ष्यमें भेद है, इस-लिये उनसे इसका तारतम्य करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । यह अनुवाद अपने गुणोंसे स्वयं प्रतिष्ठित है, जो यह है वह यही है । ऐसे कठिन विषयपर भी लिखते समय पुरोहितजीकी भाषामें सरसता और सरलता है, पढ़ते समय भाव कहीं अटकता नहीं जैसे कि कई अनुवादोंमें अटकता है । मूलसे मिलाकर भी पढ़ा और यों भी पढ़ा, फिर पढ़ा और फिर पढ़ा, बहुत ही भाया । प्रशंसनीय है । अनुवाद मूलके विरुद्ध न जावे, न घटे न बढ़े, फिर सरसता हो, कविता हो, भाषा प्राञ्जल हो जो स्वतन्त्र कविताकी तरह पढ़ी जा सके—इन सब बातोंको बहुत अच्छी तरह निबाहा गया है ।

अजमेर २९-१-२१. श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी ।

रायबहादुर श्रीयुत पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाकी सम्मति ।

पुरोहितजी रामप्रतापजीने गीताका छन्दोबद्ध हिन्दीभाषामें अनुवाद-कर हिन्दीभाषाकी बहुत ही अच्छी सेवा बजायी है, इस देशमें मोक्षकी प्राप्तिके लिये गीताका पाठ किया जाता है परन्तु मूल ग्रन्थ संस्कृतमें होने-से बहुत ही कम लोग उसका ठीक आशय जानकर इच्छित लाभ उठा सकते हैं तो भी पुरोहितजीकी यह ज्ञाननौका उनको इच्छित लाभ पहुँचा सकेगी, गीता-जैसे गहन विषयका सरल एवं सरस छन्दोबद्ध अनुवाद करना और उसमें भी मूलके आशयको ज्यों-का-त्यों बना रखना यह कठिन काम है परन्तु पुरोहितजीने उसमें पूर्ण सफलता पायी है, यह अनुवाद बड़ा ही मनोहर हुआ है, हिन्दीमें गीताके और भी छन्दोबद्ध अनुवाद छपे हैं परन्तु इसकी समता एक भी नहीं कर सकता, प्रत्येक हिन्दूके घरमें यह पुस्तक अवश्य रहनी चाहिये ।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।

व्याकरणाचार्य न्यायशास्त्री पण्डित सूर्यनारायणजी गौड़की सम्मति ।

गीतापद्यानुवादोऽयं पाराशरकुलोद्भवैः ।
बुधै रामप्रतापाख्यै रचितो रुचितो गुणैः ॥१॥
सगुणः सालङ्कारो रीतिनिबद्धोऽतिशुद्धोऽयम् ।
रघुवंशकाव्यतुल्यो मूलाद्भिन्नोऽप्यभिन्नो न ॥२॥
भगीरथो यथा गंगां स्वर्गाद्भुवि समानयत् ।
तथा रामकविर्गीतां भाषायां सुमनोगिरः ॥३॥

जडैर्जडान् बुधांश्चापि तुल्यं देवनदी यथा।
पुनात्येव पुनीतां श्रीरामगीतासुधा बुधान् ॥४॥

धन्य कुलभूषण श्रीरामप्रताप कवि
तेरो शुभ ग्रन्थ यह पूर्ण यश पावैगो,
याको जो पढ़ैगो सोही गुणनपै रीझ रीझ,
सबसों उत्कृष्टतम याको ठहरावैगो।
और अनुवाद शुभ्र सौधसम शोभित हैं
तिनके कंगूरन यह झंडा फहरावैगो,
सरस सुबोध हृद्य पद्य अनुवाद तेरो
यादमें हजारनकी हरदम लहरावैगो॥१॥

श्रीसूर्यनारायणशर्मा आचार्यः।

'कविभूषण' साहित्यशास्त्री पण्डित श्रीहरिनारायणजी दाधीचकी सम्मति।

अधिगीताम्बुधि रामप्रतापकनकाचलस्य वलनेन।
समुदञ्चितां सुहिन्दीसरलच्छन्दोऽनुवादसुधाम् ॥१॥
सुरसहृदयैकसेव्यां नितान्तमधुरां परां गुणोदाराम्।
सुविशदवर्णां ह्लादप्रचुरामेतां विदन्त्वार्याः ॥२॥
(युग्मम्)

मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान।

जिसको पढ़ कर लोग सुधरते, कर्मयोगको स्वीकृत करते।
उन्नतिके पथबीच विचरते, और सकल कलिकल्मष हरते।
है यह उस भगवद्गीताका सदनुवाद पुरुषार्थ-निधान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान॥१॥

भगवद्गीता विषय गभीर, समझ न सके इसे बहु धीर।
जाना इसके परले तीर, है नितान्त ही टेढ़ी खीर।
वैज्ञानिक विषयोंसे इसके जड़े हुए हैं सारे स्थान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥२॥

यद्यपि इस भारत भूतलपर, गीताके अनुवाद बहुत वर।
हुए प्रकाशित हैं अति सुन्दर, मैंने भी कुछ पढ़े ध्यान धर।
प्राय सभीमें देखी मैंने साम्प्रदायिकी खैंचातान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥३॥

किसी-किसीमें यह भी पाया, अर्थ छन्द अनुसार जचाया।
स्थान बचा तो और ठसाया, न बचा तो कुछ तोड़ बगाया।
उनपर इन बातोंकी आलोचना लिख चुके कई सुजान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥४॥

मैंने मेरी मतिअनुसार, लेकर मूलश्लोक आधार।
इसे मिला देखा सविचार, उनसे यह अनुवाद उदार।
लिखनेकी शैली भी कविने ली है इसमें समय-समान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥५॥

रचना भी की है सरलार्थ, तजे नहीं पद और पदार्थ।
लोकमान्य जो अर्थ यथार्थ, वही लिखा सबके बोधार्थ।
इससे स्वयं विदित यह होता है अनुवादक गुणकी खान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥६॥

पहले ले दोहे आधार, यह अनुवाद किया सविचार।
उसमें कुछ भाषा सविकार, थी इस कारण फिर इस बार।
लिखा खड़ी बोलीमें, कविका यह उत्साह प्रशंस्य महान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥७॥

इसके अनुवादक श्रीमान, होकर भी हैं अधिक सुजान।
जिनने गीताका विज्ञान, समझाया कर यत्न महान।
किया महा उपकार लोकका, इन्हें चिरायु करें भगवान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥८॥

इसे जहाँतक देखा भाला, कहीं नहीं है गड़बड़झाला।
सीधा अति महावरा डाला, हिन्दीके नियमोंको पाला।
बस क्या कहूँ? अधिक सहृदयजन इसे स्वयं ही लेंगे जान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥९॥

इतने पर भी अपना परिचय, देवें जो दोषज्ञ महाशय।
तो अनुवादक होकर निर्भय, मनमें यही ठान ले निश्चय।
इस संसार बीच लोगोंकी होती है रुचि नहीं समान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥१०॥

मेरी मति जो समझ रही है, निश्चय कर लिख रही वही है।
यह अनुवाद यथार्थ सही है, पक्षपात कुछ कहीं नहीं है।
दोष दृष्टि तज, इसको पढ़कर, करें आप भी हरिगुणगान
मैंने पढ़ा कृष्ण-विज्ञान ॥११॥

हरिप्रबोधिनी ११ } पं० श्रीहरिशर्मा शास्त्री
सं० १९७७ } दाधीच, जयपुर.

नोट:—पहला संस्करण प्रकाशित होनेके बाद अनेक पत्र-पत्रिकाओं और विद्वानोंकी जो सम्मतियाँ आयीं थी वे नहीं छापी हैं। —प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

नाम	अध्याय	पृष्ठ संख्या
१–अर्जुनविषादयोग	पहला अध्याय	२, ३
२–सांख्ययोग	दूसरा ,,	१६, १७
३–कर्मयोग	तीसरा ,,	४०, ४१
४–ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	चौथा ,,	५४, ५५
५–कर्मसंन्यासयोग	पाँचवाँ ,,	६८, ६९
६–आत्मसंयमयोग	छठा ,,	७८, ७९
७–ज्ञानविज्ञानयोग	सातवाँ ,,	९२, ९३
८–अक्षरब्रह्मयोग	आठवाँ ,,	१०२, १०३
९–राजविद्याराजगुह्ययोग	नवाँ ,,	११२, ११३
१०–विभूतियोग	दशवाँ ,,	१२२, १२३
११–विश्वरूपदर्शनयोग	ग्यारहवाँ ,,	१३६, १३७
१२–भक्तियोग	बारहवाँ ,,	१६०, १६१
१३–क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	तेरहवाँ ,,	१६६, १६७
१४–गुणत्रयविभागयोग	चौदहवाँ ,,	१७६, १७७
१५–पुरुषोत्तमयोग	पन्द्रहवाँ ,,	१८६, १८७
१६–दैवासुरसंपद्विभागयोग	सोलहवाँ ,,	१९२, १९३
१७–श्रद्धात्रयविभागयोग	सत्रहवाँ ,,	२००, २०१
१८–मोक्षसंन्यासयोग	अठारहवाँ ,,	२१०, २११

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीकृष्ण-विज्ञान

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताका हिन्दी पद्यानुवाद

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

१

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

२

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

३

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

४

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

५

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

श्रीकृष्ण-विज्ञान

पहला अध्याय

राजा धृतराष्ट्रने पूछा—

पुण्य-भूमिमय कुरुक्षेत्रमें रण-इच्छासे हो एकत्र।
मेरे और पाण्डुपुत्रोंने संजय! कहो किया क्या तत्र? ॥

२

संजयने कहा—

व्यूह रचे तैयार देखकर पाण्डवसेनाको उस काल।
द्रोणाचार्य निकट जाकर यों बोले दुर्योधन भूपाल ॥

३

हे आचार्य! देखिये उनकी बृहत् सैन्यका कैसा साज।
सजा, आपके बुद्धिमान उस शिष्य द्रुपदसुतने यह आज ॥

४

इसमें शूर, धनुर्धर भारी अर्जुन, भीम सरीखे वीर।
हैं युयुधान, विराट, द्रुपद सब महारथी ये अति रणधीर ॥

५

धृष्टकेतु है, चेकितान भी, काशिराज बलवीर्य-निकेत।
पुरुजित कुन्तिभोज योधा है नरपुङ्गव नृप शैब्य समेत ॥

६

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

७

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

८

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

९

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

१०

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

११

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

१२

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥

६

युधामन्यु इस भाँति वीर-वर, उत्तमौज है वीर्य-निधान ।
द्रौपदेय, सौभद्र तथा हैं महारथी सब बलकी खान ॥

७

हे द्विजवर ! अपनी सेनामें मुख्य वीर जो हैं रणदक्ष ।
ध्यान-युक्त हो सुनिये उनके नाम आपके कहूँ समक्ष ॥

८

आप, भीष्म हैं, कर्ण वीर है, कृपाचार्य बलमें भरपूर ।
अश्वत्थामा है, विकर्ण है, सोमदत्तका सुत अति शूर ॥

९

और वीर भी देनेको निज प्राणोंतक तैयार मदर्थ ।
हैं नानाविध शस्त्रकलामें निपुण, सकल रणबीच समर्थ ॥

१०

भीष्मपितामहसे रक्षित भी अपर्याप्त है सैन्य स्वकीय ।
भीम मात्रसे परिरक्षित वह सुपर्याप्त है बल परकीय ॥

११

सब अयनोंमें निज नियुक्ति अनुसार ठहर करके रणधीर ।
एक भीष्मकी रक्षा करिये मिलकर सभी ओरसे वीर ॥

१२

नृपको करते मुदित, प्रतापी भीष्मपितामहने उस काल ।
सिंहनाद कर ऊँचे स्वरसे फूँका अपना शंख विशाल ॥

१३

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥

१४

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥

१५

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥

१६

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥

१७

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥

१८

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥

१९

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥

१३

आनक, गोमुख, पणव, भेरियाँ, बजने लगे शंख अतिघोर ।
सहसा इनका शब्द भयानक लगा गूँजने चारों ओर ॥

१४

श्वेत अश्वयुत भारी रथमें बैठे हुए पार्थ, यदुनाथ ।
अपने अपने दिव्य शंखको लगे बजाने दोनों साथ ॥

१५

हृषीकेश ले पाञ्चजन्यको, देवदत्त ले अर्जुन वीर ।
भीम भयंकर पौंड्रशंखको लगा बजाने अति गंभीर ॥

१६

शंख अनन्तविजयको फूँका भूप युधिष्ठिरने कर रोष ।
चौथे पाण्डवने मणिपुष्पक और नकुलने शंख सुघोष ॥

१७

महा धनुर्धर काशिराज फिर वीर शिखण्डी अति बलवान ।
धृष्टद्युम्न, विराट, महाभट सात्यकि आदि अजेय महान ॥

१८

द्रुपद द्रौपदीतनय तथा सौभद्र वीर भी हे भूपाल ! ।
लगे बजाने पृथक्-पृथक् ये अपने-अपने शंख विशाल ॥

१९

उस गंभीर शब्दने कौरवहृदयोंको कर दिया विदीर्ण ।
और गूँजकर तुमुल हुआ वह भू-नभको कर गया प्रतीर्ण ॥

२०

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥

२१

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥

२२

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥

२३

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥

२४

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥

२५

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥

२६

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥

२०

फिर कौरवगणको अर्जुनने देख व्यवस्थासे उस काल।
रणहित हो सन्नद्ध, उठाकर अपना धनु गाण्डीव विशाल ॥

२१

इस प्रकारसे हृषीकेशको कहने लगा धनंजय वीर।
दोनों दलके बीच हमारा रथ ले चलिये हे रणधीर! ॥

२२

जबतक देखूँ इन वीरोंको युद्ध-हेतु जो आये आज।
और साथमें किनके मुझको लड़ना होगा हे यदुराज! ॥

२३

दुर्मति दुर्योधनके हितमें रत हो करके जो बलवान!।
रणक्षेत्रमें हुए इकट्ठे उन्हें देख लूँ मैं भगवान! ॥

२४

संजयने कहा—

अर्जुनके ऐसा कहनेपर हृषीकेश तब हे भूपाल!।
उत्तम रथको दोनों दलके बीच खड़ा करके उस काल ॥

२५

भीष्म द्रोणादिक वीरोंके सन्मुख बोले फिर यह बात।
एकत्रित इस कौरव-दलको अब अवलोकन कर ले तात! ॥

२६

तब अर्जुन उस युद्धभूमिमें बूढ़े बड़े और आचार्य।
मामा, भाई, पुत्र, पौत्रगण, प्रियजन तथा मित्रगण आर्य ॥

२७

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥

२८

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

२९

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

३०

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

३१

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

३२

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

३३

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

२७

श्वशुर और सब सुहृदोंको भी दोनों दलमें खड़े निहार।
हैं जितने सब बन्धु हमारे ऐसा निश्चय मनमें धार॥

२८

अति करुणासे व्याप्त खिन्न-मन होकर बोला वचन विशाल।
युद्ध-हेतु इन सब स्वजनोंको देख इकट्ठे कृष्ण! कृपाल॥

२९

अंग शिथिल होते हैं मेरे सूख रहा मुख हे भगवान!
सब शरीरमें हुई कँपकँपी और हुआ रोमाञ्च महान॥

३०

गिरता है गांडीव हाथसे अंगोंमें है दाह विचित्र।
मन मेरा चक्कर सा खाता खड़ा नहीं रह सकता मित्र!॥

३१

केशव! शकुन दिखाई पड़ते उलटे मुझको सर्व प्रकार।
नहीं देखता श्रेय कभी मैं इन स्वजनोंको रणमें मार॥

३२

इच्छा नहीं राज्यकी, जयकी, नहीं चाहिये सुखका भोग।
राज्य-भोग या जीवनके भी रखनेका है क्या उपयोग?॥

३३

इच्छा रही राज्यकी, सुखकी, भोगोंकी भी जिनके अर्थ।
वे ही लड़नेको आये हैं जीवन, धन-आशा तज व्यर्थ॥

३४

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥

३५

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥

३६

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥

३७

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥

३८

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥

३९

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥

४०

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥

३४

बूढ़े, बड़े और सुत सारे दादा तथा और आचार्य ।
मामा, साले, श्वशुर, पौत्र हैं और सभी सम्बन्धी आर्य ॥

३५

ये मारें चाहे मुझको पर मैं न करूँगा इनपर घात ।
राज्य मिले त्रिभुवनका तो भी, पृथ्वीकी फिर क्या है बात? ॥

३६

इन्हें मारकर कौन हमारा ऐसा हित होगा भगवान ? ।
आततायि हैं तोभी इनकी हत्यासे है पाप महान ॥

३७

इससे हमको उचित नहीं है इन्हें मारना हे जगदीश ! ।
निज स्वजनोंको मार सुखी हम कैसे हो सकते हैं ईश ? ॥

३८

यद्यपि होकर लोभविवश ये नहीं देखते अपने आप ।
क्या है दोष कुलक्षयसे फिर मित्रद्रोहमें कितना पाप ॥

३९

जब कि कुलक्षयजन्य दोषका पूर्ण हो रहा हमको ज्ञान ।
तो फिर इससे बचनेकी हम क्यों न विचारेंगे भगवान ? ॥

४०

कुलके क्षयसे मिट जाता है धर्म सनातन अपने आप ।
धर्मनाशसे सारे कुलमें बढ़ जाता है भारी पाप ॥

४१

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥

४२

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

४३

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

४४

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

४५

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

४६

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

४७

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

४१

पापवृद्धिसे कुलस्त्रियाँ सब हो जाती हैं भ्रष्ट निदान।
दूषित हुई नारियाँ वे फिर जनैं वर्णसंकर सन्तान॥

४२

संकरतासे निश्चय ही वे गिरैं नरकमें कुलके साथ।
पिंड-दानके लोप हुयेसे पितर पतित हो जाते, नाथ!

४३

कुलघातकके संकर-कारक इन दोषोंसे ही यदुनाथ!।
धर्म-सनातन जाति-धर्म कुल-धर्म बिगड़ते हैं सब साथ॥

४४

हम ऐसा सुनते हैं जिनका नष्ट हुआ कुल-धर्म नितान्त।
उनका निश्चय ही होता है वास नरकमें जग-प्रलयान्त॥

४५

हाय! हुए हैं उद्यत हम सब बन्धुवर्गका करने घात।
सुख-साम्राज्य लोभसे; कैसा पातक, महा खेदकी बात॥

४६

बिना किये ही प्रतीकारके यदि निशस्त्र मुझको, दे बाण।
कौरव रणके बीच मार दें, तो मेरा होवे कल्याण॥

४७

संजयने कहा—

इस प्रकार भाषण कर रणमें शोकव्यथित हो अर्जुन वीर।
बैठ गया रथमें कुछ हटकर छोड़ हाथसे निज धनु-तीर॥

पहला अध्याय समाप्त हुआ॥ १॥

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः

१

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥

२

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

३

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

४

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥

५

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥

ॐ

दूसरा अध्याय

१

संजयने कहा—

इस प्रकार करुणायुत, व्याकुल, अश्रु-परिप्लुत नयन विशाल।
उस विषण्ण-मन अर्जुनसे तब ऐसे बोले श्रीगोपाल॥

२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

क्योंकर भारी मोह हुआ यह तुझको विषम समयमें पार्थ!।
यह अनार्यसेवित, नरकप्रद, अपयशकर है कर्म यथार्थ॥

३

ऐसा कायर मत हो अर्जुन! उचित नहीं यह तुझको कार्य।
तुच्छ हृदयकी दुर्वलता तज लड़नेको उत्थित हो आर्य!॥

४

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन! भीष्मपितामह तथा द्रोण हैं पूज्य महान।
कैसे युद्ध करूँगा इनसे रणमें वाणोंसे भगवान!॥

५

गुरु महानुभावोंको रणमें नहीं मार करके हे श्रेष्ठ!।
जगमें भिक्षा करके मेरा उदरपूर्ति करना है श्रेष्ठ॥
पर इन अर्थ-कामियोंका इस रणक्षेत्रमें कर संहार।
इनके रुधिर-सने भोगोंको भोगूँ यह न मुझे स्वीकार॥

६

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

७

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

८

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

९

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

६

यह भी नहीं जानते हैं हम, कौन श्रेष्ठ है इनमें पक्ष ।
उनको हम जीतें या हमको वे जीतेंगे रणमें दक्ष ॥
जीवित रहना नहीं चाहते हम जिनको इस रणमें मार ।
सम्मुख वे धृतराष्ट्रपुत्र सब रणके लिये खड़े तैयार ॥

७

दैन्य-दोषसे मेरा सारा नष्ट हुआ है क्षात्र-स्वभाव ।
क्या है, मेरा धर्म कर्म ? मैं नहीं जानता हूँ यह भाव ॥
जो निश्चय हो श्रेय, मुझे वह कहो, पूछता हूँ मैं आज ।
शिष्य और शरणागत हूँ मैं समझाओ मुझको यदुराज ! ॥

८

निष्कण्टक सम्पन्न भूमिका यदि साम्राज्य, सहित सम्मान ।
मिले, इन्द्र आदिक देवोंका भी मुझको साम्राज्य महान ॥
तो भी साधन नहीं देखता वह, जो मेरा सारा शोक ।
सकल इन्द्रियोंका शोषण है, दूर करे इसको बे-रोक ॥

९

संजयने कहा—

इस प्रकार कह हृषीकेशसे गुडाकेश तब हे भूपाल ! ।
'नहीं लड़ूँगा' ऐसा कहकर चुप हो बैठ गया उस काल ॥

१०

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥

११

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

१२

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

१३

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

१४

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

१५

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

१६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

१०

दोनों दलके बीच पार्थको खिन्न देख हे भूप ! महान ।
मन्द-मन्द हँसतेसे बोले उससे तब यों श्रीभगवान ॥

११

श्रीभगवान्‌ने कहा—

शोक अशोच्य वस्तुका करता और ज्ञानकी करता बात ।
प्राण जायँ या रहैं किसीके ज्ञानी शोक न करता तात ! ॥

१२

मैं, तुम और सभी ये नृपगण पहिले हुए नहीं क्या पार्थ ? ।
आगे होंगे नहीं कभी यह बात असम्भव जान यथार्थ ॥

१३

शैशव, यौवन, जरा यथा हों देहीके इस तनुमें प्राप्त ।
वैसे मिलती अन्य देह भी पंडित हों न मोहसे व्याप्त ॥

१४

इन्द्रिय-गण-संयोग करैं सब शीत-उष्ण, सुख-दुखद पदार्थ ।
ये अनित्य आते-जाते हैं इनको सहन करो हे पार्थ ! ॥

१५

जिसको इनसे व्यथा न होती पुरुषश्रेष्ठ ! हे अर्जुन वीर ! ।
जो समान गिनता सुखदुखको मोक्षयोग्य है वह नर धीर ॥

१६

हो न सकेगी वस्तु,नहीं जो, है, जिसका हो नहीं अभाव ।
तत्त्वज्ञानियोंने दोनोंका किया यही अन्तिम ठहराव ॥

१७

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

१८

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

१९

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

२०

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

२१

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

२२

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

१७

याद रहे, जिसने इस जगको व्याप्त किया वह है अविनाश ।
किसकी है सामर्थ्य करे जो इस अव्ययका तत्त्व विनाश ॥

१८

यह आत्मा है अमर, नित्य फिर अप्रमेय है पाण्डव वीर ! ।
देह विनाशशील हैं उसके, इस कारण लड़ हे रणधीर ! ॥

१९

मरने तथा मारनेवाला जो देहीको लेते मान ।
यह न मारता, मारा जाता इन दोनोंका उन्हें न ज्ञान ॥

२०

जन्म लेता है नहीं, मरता नहीं है यह कभी ।
और ऐसा भी नहीं होकर न फिर हो यह कभी ॥
नित्य यह अज है पुरातन और शाश्वत जान तू ।
देह-वध हो जाय तो भी वध न इसका मान तू ॥

२१

अज, अव्यय, अविनाशी इसको नित्य पुरुष जो लेता मान ।
वह कैसे किसका वध करता या करवाता, यह तो जान ॥

२२

जैसे जीर्ण वस्त्रको तजकर नर नूतन पट लेता धार ।
वैसे जीर्ण देह तज देही अन्य देह करता स्वीकार ॥

२३

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

२४

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

२५

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

२६

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥

२७

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

२८

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

२९

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

२३

काट न सकते शस्त्र इसे है जला न सकता इसे अनल।
वायु न इसे सुखा सकता है गला न सकता इसको जल॥

२४

कटने जलने और भीगने, नहीं सूखनेवाला यह।
नित्य, सनातन, सर्वव्यापी, स्थिर है, अचल, निराला यह॥

२५

कहते हैं अव्यक्त इसीको, है अचिन्त्य, यह है अविकार्य।
इस प्रकारका जान इसे यों शोक न करना अर्जुन आर्य!॥

२६

सदा जन्मता या मरता यह ऐसा भी यदि माने वीर!
तो भी इसका शोक न करना तुझे उचित है हे रणधीर!॥

२७

क्योंकि जन्म लेता सो मरता, मरता जो होता उत्पन्न।
फिर तू ऐसी अटल बातकी चिन्तासे क्यों हो अवसन्न॥

२८

सभी भूत अव्यक्त आदिमें, और मध्यमें हैं ये व्यक्त।
हो जाते अव्यक्त अन्तमें तू फिर क्यों है शोकासक्त॥

२९

देखता कोई इसे है जानकर अद्भुत महा।
फिर किसीने तो महा आश्चर्यवत् इसको कहा॥
श्रवणकर कोई इसे आश्चर्य-सा है मानता।
श्रवण करके भी न कोई तत्त्व इसका जानता॥

३०

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

३१

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

३२

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

३३

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

३४

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥

३५

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥

३६

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

३०

यह आत्मा है अमर सदा ही सब देहोंमें पाण्डुकुमार !।
इससे सभी प्राणियोंका तू मनमें मत रख शोक विचार ॥

३१

अपना धर्म देखकर भी तू इस अधीरताको मत धार।
धर्म-युद्ध-सम और नहीं कुछ क्षत्रियको है जगमें सार ॥

३२

स्वयंप्राप्त यह खुला हुआ है युद्ध-सुरूप स्वर्गका द्वार।
भाग्यवान क्षत्रिय ही इसको पाते हैं हे पाण्डुकुमार !॥

३३

यदि स्वधर्म-अनुकूल युद्ध यह नहीं करेगा तू जो वीर।
तो स्वधर्म, निज कीर्ति गवाँकर पाप बटोरेगा रणधीर !॥

३४

यही नहीं, तेरे अपयशका लोग करेंगे अक्षय गान।
अपयश तो सम्मानित नरको मरनेसे भी बढ़कर जान ॥

३५

महारथी समझेंगे तुझको भगा हुआ रणसे भय मान।
जिन्हें मान्य तू अधिक हो रहा वे अयोग्य अब लेंगे जान ॥

३६

कह कुवाच्य अरिगण सब तेरी निन्दा बहुत करेंगे तात !।
इससे अधिक दुःखप्रद जगमें होगी और कौन-सी बात ॥

३७

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

३८

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

३९

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

४०

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

४२

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

४३

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

३७

मर जानेसे स्वर्ग मिलेगा जय होनेसे भूतलराज ।
इससे निश्चय ही भारत ! तू हो जा खड़ा युद्धको आज ॥

३८

विजय-पराजय,हानि-लाभ,सुख-दुःख सभीको जान समान ।
फिर प्रवृत्त हो जा तू रणमें पाप नहीं होगा मतिमान ! ॥

३९

अबतक सांख्य-बुद्धि बतलायी अब सुन योग-बुद्धि ज्ञानार्थ ।
जिस मतिसे संयुक्त हुआ तू कर्म-बन्ध छोड़ेगा पार्थ ! ॥

४०

यहाँ नहीं आरब्ध कर्मका नाश, न कोई विघ्न महान ।
स्वल्पमात्र भी सेवन इसका करता भारी भयसे त्राण ॥

४१

व्यवसायात्मक बुद्धि जगतमें कुरुनन्दन ! होती है एक ।
बहुशाखायुत बहुत बुद्धियाँ होतीं उनकी, जो अविवेक ॥

४२

वेदोंके वचनोंमें भूले मूढ़, बढ़ाकर ऐसी बात ।
'इससे अन्य नहीं है कुछ भी' सदा कहा करते हैं तात ! ॥

४३

नाना कर्मोंसे मिलते फल जन्मरूप, ऐश्वर्य सुभोग ।
स्वर्गपरायण हुए, कहा करते यों काम्यबुद्धिके लोग ॥

४४

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

४५

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

४६

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

४७

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

४९

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

५०

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

४४

इस भाषणसे अपहृत-चित्त हुए रहते जो विषयासक्त ।
उनकी वह व्यवसाय बुद्धि फिर कभी न हो समाधि-आसक्त ॥

४५

वेद भरे हैं त्रिगुण विषयसे, तू बन निस्त्रैगुण्य सुजान ।
योग-क्षेम तज निर्द्वन्द्वी हो, नित सत्त्व-स्थित, आत्मावान ॥

४६

चारों ओर सलिलके होते, जितना अर्थ कूपका जान ।
बस, ज्ञानी जनको उतना ही उपयोगी है वेदज्ञान ॥

४७

कर्ममात्रका है अधिकारी फलका तुझे नहीं अधिकार ।
कर्मी फलहेतुक मत हो, पर कर्म छोड़ मत पाण्डुकुमार ! ॥

४८

हो योगस्थ कर्म कर सारे, संग छोड़ करके हे पार्थ ! ।
सिद्धि-असिद्धि समान मानकर क्योंकि साम्य ही योग यथार्थ ॥

४९

बुद्धि-योगसे अति निकृष्ट है पार्थ ! सकाम-कर्मका योग ।
इससे बुद्धि-शरणमें जा तू, कृपण चाहते फलका भोग ॥

५०

बुद्धियुक्त जन पाप-पुण्य दोनोंका त्यागी होता पार्थ ।
इससे योग-युक्त हो, कर्म-कुशलता ही है योग यथार्थ ॥

५१

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

५२

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

५३

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

५४

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

५५

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

५६

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

५१

ज्ञानयुक्त जन बुद्धियोगसे करते कर्मफलोंका त्याग।
जन्म-बन्धसे मुक्त हुए वे मोक्ष प्राप्त होते बड़भाग॥

५२

मोह-कलिलसे जब यह तेरी बुद्धि स्वयं उतरेगी पार।
श्रुत-श्रोतव्य सभी विषयोंसे तब होगा विरक्ति-स्वीकार॥

५३

श्रुतिभ्रान्त मति तेरी निश्चल स्थिर होगी समाधिमें पार्थ!।
तब ही उत्तम साम्य-बुद्धिका योग मिलेगा तुझे यथार्थ॥

५४

अर्जुनने कहा—

क्या लक्षण है समाधिस्थ उस स्थितप्रज्ञका हे जगदीश?।
बोल-चाल कैसी है उसकी और बैठना कैसा ईश?॥

५५

श्रीभगवान्‌ने कहा—

अर्जुन! जब नर तज देता है अपने मनके सारे काम।
अपने आप तुष्ट रहता जो स्थितप्रज्ञ तब उसका नाम॥

५६

सुखमें चाह न होती जिसको दुखमें हो न खेदका ध्यान।
राग, क्रोध, भय छोड़ चुका हो स्थितप्रज्ञ मुनि उसको जान॥

५७

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५८

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५९

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

६०

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

६१

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

६२

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

६३

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

५७

हर्ष-द्वेष नहीं करता हो स्नेहरहित जो हो सर्वत्र।
यथाप्राप्त शुभ-अशुभ वस्तुमें हुई बुद्धि स्थिर उसकी तत्र॥

५८

जैसे कछुवा सब अंगोंको सिकुड़ा लेता, हे मतिमान!।
तथा इन्द्रियोंको विषयोंसे खैंचे उसकी स्थिरधी जान॥

५९

निराहारके रससे वर्जित विषयोंका होता है त्याग।
ब्रह्मदर्शसे विषय तथा रस दोनों छुट जाते बड़भाग॥

६०

हे अर्जुन! प्रयत्न करते भी विद्वज्जनके इन्द्रिय-वृन्द।
बलपूर्वक मन आकुल करके आकर्षित करते स्वच्छन्द॥

६१

उन इन्द्रियगणका संयमकर योगी मत्पर रहे सुजान।
क्योंकि इन्द्रियाँ वश हो जिसके उस नरको तू स्थिरधी मान॥

६२

विषयोंके चिन्तनसे मानव विषयसंगमें हो आसीन।
संग काम पैदा करता है काम क्रोधमें करता लीन॥

६३

क्रोध करे सम्मोह, मोहसे स्मृतिभ्रंश, फिर हो मतिनाश।
बुद्धिनाशसे फिर उस नरका हो जाता सर्वस्व विनाश॥

६४

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

६५

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

६६

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

६७

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

६८

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

६९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

७०

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

६४

सकल इन्द्रियोंको वशमें कर विषयोंका करता बरताव।
वह नर रहता है प्रसन्न जो छोड़े राग-द्वेषका भाव॥

६५

मन प्रसन्न रहनेसे होते नष्ट सकल ही दुःख विशाल।
मन जिसका प्रसन्न हो उसकी बुद्धि स्थिर होती तत्काल॥

६६

योगरहितको बुद्धि न होती, नहीं भावना होती पार्थ!।
शान्ति भावना विना नहीं हो, सुख अशान्तको नहीं यथार्थ॥

६७

जब संचारी सकल इन्द्रियोंके, पीछे हों मनके भाव।
वही, बुद्धि नरकी यों खैंचे जैसे वायु सलिलमें नाव॥

६८

चहूँ ओर इन्द्रिय-विषयोंसे जिसकी सकल इन्द्रियाँ पार्थ।
हटी हुई हों पूर्णरूपसे, स्थितप्रज्ञ है वही यथार्थ॥

६९

जो सबकी है रात, जागता उसमें स्थितप्रज्ञ हे तात!।
जब सब प्राणी रहें जागते ज्ञानवानकी है वह रात॥

७०

भरे हुए भी अतुल, सिन्धुमें ज्यों जल आते हैं अविराम।
विषय समावें त्यों जिसमें वह पाता शान्ति, न जागृत-काम॥

७१

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

७१

जो निःस्पृह हो काम छोड़कर सदा विचरता है स्वच्छन्द ।
अहंकार ममता न जिसे हो वही शान्ति पाता सानन्द ॥

७२

ब्राह्मी स्थिति है यही पार्थ बस इसको पा, हटता अज्ञान ।
अन्त समय जो इसमें स्थित हो ब्रह्मप्राप्त हो वही सुजान ॥

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

ॐ

तृतीयोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

२

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

३

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

४

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

५

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

६

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

ॐ

तीसरा अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

कर्म-अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है यदि मत यही तुम्हारा ईश ! ।
तो फिर मुझको घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते जगदीश ? ॥

२

कर भाषण सन्दिग्ध, बुद्धिमें डाल रहे भ्रम-सा भगवान ।
एक बात निश्चय कर कहिए जिससे मेरा हो कल्यान ॥

३

श्रीभगवान्‌ने कहा—

दो प्रकारकी निष्ठा जगमें मैंने पहिले किया बखान ।
ज्ञान-योग निष्ठा सांख्योंकी, कर्म-योग योगीकी जान ॥

४

अनारम्भ कर्मोंके से ही पुरुष नहीं होता निष्काम ।
और त्याग कर्मोंके से भी नहीं सिद्धिका मिलता धाम ॥

५

बिना कर्मके क्षणभर कोई कभी नहीं रह सकता मित्र ! ।
प्रकृतिज गुण कर विवश पुरुषसे करवाते हैं कर्म विचित्र ॥

६

कर्मेन्द्रियको रोक चित्तमें विषयोंका जो करता ध्यान ।
पंडितजन उस महा मूढको मिथ्याचारी कहें महान ॥

७

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

८

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

९

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

१०

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

११

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

१२

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

१३

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

७

मनसे रोक इन्द्रियाँ जो नर, अनासक्त होकर, हे पार्थ !
कर्मेन्द्रियद्वारा करता है कर्मोंको, वह श्रेष्ठ यथार्थ ॥

८

नियत कर्म कर, नहीं कियेसे श्रेष्ठ यही है करना कर्म ।
विना कर्मके ठीक नहीं सध सकता कभी देहका धर्म ॥

९

यज्ञ-हेतुको छोड़ अन्य सब कर्म निबन्धन करते पार्थ ! ।
इससे तज, आसक्ति वीरवर ! कर स्वकर्म सब ही यज्ञार्थ ॥

१०

प्रजा यज्ञके साथ बना विधि बोले पहिले ऐसी बात ।
यह इच्छित फलदाता होवे, इससे बढ़ो सभी तुम तात ! ॥

११

इससे तुष्ट करो देवोंको देव करे तुमको सन्तुष्ट ।
आपसमें इस भाँति तुष्ट रह पाओ परम श्रेय, हो पुष्ट ॥

१२

हो सन्तुष्ट यज्ञसे सुरगण देंगे इच्छित भोग निदान ।
उनका दिया न उनको देकर जो भोगें वे चोर महान ॥

१३

यज्ञशेष जो भोजन करते वे जन होते हैं निष्पाप ।
जो अपने ही लिये पकाते पाप भोगते अपने आप ॥

१४

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

१५

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

१६

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

१७

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

१८

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

१९

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

२०

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥

१४

होते प्राणी सभी अन्नसे और मेघसे होता अन्न।
यज्ञ मेघ पैदा करता है, यज्ञ कर्मसे हो उत्पन्न॥

१५

कर्म ब्रह्मसे पैदा होता, अक्षरसे हो ब्रह्म सुजान।
इससे सर्व व्याप्त ब्रह्मको सदा यज्ञमें स्थित तू मान॥

१६

ऐसे यज्ञ-चक्रको आगे जो न चलाता जगके अर्थ।
उस अघायु, इन्द्रियलम्पटका इस जगमें है जीवन व्यर्थ॥

१७

आत्माहीमें जो नर रत है तृप्त आत्म-सुखसे सविशेष।
जो सन्तुष्ट इसीमें, उसका है कर्त्तव्य नहीं कुछ शेष॥

१८

उसको कुछ भी लाभ नहीं है किये और न कियेसे कार्य।
उसका सब जीवोंमें कुछ भी नहीं प्रयोजन रहता आर्य!॥

१९

जब ऐसा है तब तू भी यों तज आसक्ति, किया कर काम।
जो मनुष्य ऐसा करते हैं पाते परम मोक्षका धाम॥

२०

ऐसे ही जनकादिकने भी पाई सिद्धि कर्मसे वीर!।
दृष्टि लोक-संग्रहपर भी दें तो भी कर्म उचित रणधीर!॥

२१

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

२२

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

२३

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

२४

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

२५

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

२६

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

२१

श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है करते वही पुरुष सामान्य ।
जो प्रमाण उसका होता है वे कर लेते उसको मान्य ॥

२२

त्रिभुवनमें अवशिष्ट हमारा रहा नहीं कुछ भी उद्देश ।
सब कुछ पाया है, तो भी हम करते रहते कर्म विशेष ॥

२३

यदि तज मैं आलस्य कर्मका करना नहीं करूँ स्वीकार ।
तो जगमें सब लोग चलेंगे इस मेरे पथके अनुसार ॥

२४

जो मैं कर्म न करूँ पार्थ ! तो सारे मानव होंगे भ्रष्ट ।
मैं संकरकर्ता कहलाऊँ होयँ प्रजायें मुझसे नष्ट ॥

२५

रहकर कर्मासक्त मूर्ख जन जैसे करते हैं बर्त्ताव ।
कर्म, लोक-संग्रह-हित ज्ञानी, करें छोड़ आसक्ति-स्वभाव ॥

२६

कर्मासक्त मूर्खकी मतिमें पंडित भेद न डाले पार्थ ! ।
कर्म करावे लोगोंसे, हो, युक्त स्वयं भी करे यथार्थ ॥

२७

प्रकृति-गुणोंसे सब प्रकारके कर्म हुआ करते हैं आप ।
अहङ्कार-वश "मैं करता हूँ" ऐसा करते अज्ञ प्रलाप ॥

२८

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

२९

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

३०

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

३१

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

३२

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥

३३

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

३४

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

२८

ये गुण-कर्म भिन्न हैं मुझसे, है ऐसा जिसके मन ज्ञान।
वह इनमें आसक्त न होता खेल गुणोंका गुणमें जान॥

२९

प्रकृतिगुणोंसे मोहित मानव गुण-कर्मोंमें रहते सक्त।
उन अल्पज्ञ मन्द मनुजोंको चलित न करें ब्रह्मके भक्त॥

३०

ज्ञानदृष्टिसे मुझमें सारे कर्मोंका कर न्यास यथार्थ।
आशा, ममता दोनों तजकर बेखटके होकर लड़ पार्थ!॥

३१

दोषदृष्टिको मानव तजकर, हो करके अति श्रद्धायुक्त।
मेरे मतका नित्य आचरण करें, कर्मसे होवें मुक्त॥

३२

दोषदृष्टिसे मेरे मतका जो नर नहीं करैं बरताव।
उनको नष्ट हुए ही समझो वे अविवेकी मूढ़ स्वभाव॥

३३

निज स्वभाव-अनुसार यत्न नित ज्ञानी भी करते रणधीर!
प्राप्त प्रकृतिको प्राणी होते निग्रह क्या कर सकता वीर!॥

३४

प्रति इन्द्रियके निज विषयोंमें राग-द्वेष व्यवस्थित जान।
इनके वशमें कभी न आना ये नरके हैं शत्रु महान॥

३५

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

३६

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

३७

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

३८

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

३९

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

४०

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

३५

हो परधर्म रुचिर, गुणवाला, पर स्वधर्म निर्गुण भी श्रेय ।
मरना भी शुभ है स्वधर्ममें, धर्म पराया भयप्रद हेय ॥

३६

अर्जुनने कहा—

प्रेरित हुआ विना इच्छाके हठसे जन यह अपने आप ।
किसकी अहो ! प्रेरणा पाकर वार्ष्णेय ! करता है पाप ? ॥

३७

श्रीभगवान्‌ने कहा—

पापी पेटू काम तथा यह क्रोध, पार्थ ! तू ऐसा जान ।
हों उत्पन्न रजोगुणद्वारा, ये जनके हैं शत्रु महान ॥

३८

अग्नि धूमसे, मलसे दर्पण, झिल्लीसे ज्यों गर्भ महान ।
ढके हुए रहते हैं, त्यों ही रहता ढका कामसे ज्ञान ॥

३९

ज्ञानीका तो नित्य शत्रु यह कामरूप है अग्निसमान ।
कभी तृप्त हो नहीं, इसीने कौन्तेय ! ढक रक्खा ज्ञान ॥

४०

इन्द्रियगणको, मन सुबुद्धिको, इसका गढ़ कहते हैं वीर ! ।
इनके द्वारा ज्ञान ढाँककर यह मोहित करता नर धीर ॥

४१

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

४२

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

४३

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

४१

इससे पहिले इन्द्रियसंयम करके कर तू इसका नाश।
जिस पापीने नष्ट किया है पूर्ण ज्ञान, विज्ञानप्रकाश॥

४२

देहादिकसे सूक्ष्म इन्द्रियाँ इनसे मन है सूक्ष्म सुजान!।
मनसे सूक्ष्म बुद्धि है उससे आत्मा है फिर सूक्ष्म महान॥

४३

ऐसे बुद्धिपरे आत्माको जान, चित्त निश्चल कर पार्थ!।
काम-रूप इस दुर्जय रिपुको महाबाहु! तू मार यथार्थ॥

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥३॥

ॐ

चतुर्थोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

२

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

३

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

४

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

५

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

ॐ

चौथा अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

मैंने यह स्थिर योग कहा था विवस्वानको हे रणधीर! ।
विवस्वानने मनुको, मनुने निज इक्ष्वाकु पुत्रको, वीर! ॥

२

ऐसे परम्परासे पाये हुए इसे जाने ऋषिलोग ।
योग नष्ट फिर हुआ लोकमें दीर्घ कालका पा संयोग ॥

३

वही योग यह परम पुरातन मैंने, उत्तम गोप्य रहस्य ।
बतलाया है तुझे इसलिये, तू है मेरा भक्त, वयस्य ॥

४

अर्जुनने कहा—

तुम तो जन्मे हो अब, रविको हुए बहुत बीता है काल ।
कैसे मानूँ, तुमने पहिले उसे कहा था योग विशाल ॥

५

श्रीभगवान्‌ने कहा—

तेरे मेरे जन्म अनेकों बार हुए हैं सुन धर ध्यान ।
उन्हें जानता हूँ मैं, अर्जुन! तुझे नहीं है उनका ज्ञान ॥

६

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

७

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

८

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

९

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

१०

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

११

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

१२

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

६

यद्यपि जन्मरहित, अव्यय हूँ, भूत-संघका ईश यथार्थ।
तो भी स्थित हो निज-प्रकृतिमें जन्मूँ निज मायासे पार्थ! ॥

७

जब-जब ग्लानि धर्मकी होती और पापका बढ़े प्रचार।
हे भारत! तब-तब मैं आकर स्वयं लिया करता अवतार ॥

८

साधुजनोंकी रक्षा करने दुष्टोंका करने संहार।
युग-युगमें पैदा होता हूँ स्थित करनेको धर्माचार ॥

९

मेरे दिव्य सुजन्म, कर्मको जो लेता है जान यथार्थ।
देह छोड़कर जन्म न लेता मुझसे आ मिलता है पार्थ! ॥

१०

मेरे आश्रित, मत्पर होकर, राग, क्रोध, भयसे हो हीन।
बहुत ज्ञान-तपसे शुचि होकर मम स्वरूपमें हुए विलीन ॥

११

जो भजते जिस भाँति मुझे हैं फल दूँ उनको उसी प्रकार।
मेरे ही उस एक मार्गसे मानव सारे होते पार ॥

१२

कर्म-सिद्धिकी इच्छा करके देव-अर्चना करते लोग।
क्योंकि यहाँपर जल्दी मिलते उनको कर्म-सिद्धिके भोग ॥

१३

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

१४

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

१५

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

१६

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

१७

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

१८

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

१९

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

१३

चारों वर्ण रचे मैंने गुण-कर्म भेदसे हे मतिमान।
मुझ इनके कर्त्ताको भी अविनाशी अक्रिय ही तू जान॥

१४

कर्म न बाँधे मुझे, न मेरी इच्छा कर्मफलोंमें युक्त।
जो मुझको इस भाँति जान ले वह कर्मोंसे होता मुक्त॥

१५

यही जानकर मुमुक्षुओंने पहिले कर्म किया था पार्थ।
इस कारण कर तू वह पहिले पूर्वज-कृत ही कर्म यथार्थ॥

१६

इसमें कवि भी भ्रम-वश होते कौन कर्म है, कौन अकर्म।
कहूँ कर्म वह, जिसे जान तू पाप-मुक्त हो, पावे शर्म॥

१७

ज्ञान कर्मका कर, विकर्मका भी तू परिचय जान यथार्थ।
फिर अकर्म भी जान पूर्ण तू, गहन कर्मकी गति है पार्थ!॥

१८

जो अकर्ममें कर्म देखता और कर्ममें लखे अकर्म।
सबमें ज्ञानी, युक्त, वही नर करनेवाला है सब कर्म॥

१९

काम-वासना-विरहित होते जिस नरके सारे उद्योग।
ज्ञान-अग्निसे कर्म जले हों उसको बुध कहते बुध-लोग॥

२०

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

२१

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

२२

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

२३

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

२४

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

२५

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

२६

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

२०

तज आसक्ति कर्मफलकी जो नित्य निराश्रय, तृप्त महान ।
मग्न हुआ भी वह कर्मोंमें कर्म नहीं कुछ करे सुजान ॥

२१

आशारहित, सु-संयत मानस, तजकर सर्वपरिग्रह आप ।
केवल शारीरिक कर्मोंको करता, उसे न होता पाप ॥

२२

मिले आपसे तुष्ट उसीमें द्वन्द्वरहित है निर्मत्सर ।
सिद्धि असिद्धि समान माननेवाला बद्ध न होता नर ॥

२३

संग-रहित है मुक्त, ज्ञानमें स्थिर है जिसका चित्त यथार्थ ।
यज्ञ-अर्थ करनेवालेके कर्म विलीन सभी हैं पार्थ ! ॥

२४

अर्पण ब्रह्म, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्म अग्निमें होता ब्रह्म ।
जिसकी मतिमें कर्म ब्रह्ममय, मिल जाता है उसको ब्रह्म ॥

२५

करते हैं कोई योगी जन यज्ञ देवहीके उद्देश ।
कोई ब्रह्म-अग्निमें करते यज्ञ, यज्ञसे यजन-विशेष ॥

२६

कोई कर्णादिक इन्द्रियका संयमाग्निमें करते याग ।
कोई शब्दादिक विषयोंका इन्द्रियाग्निमें करते त्याग ॥

२७

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

२८

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

२९

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

३०

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

३१

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

३२

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

३३

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

२७

कुछ जन सब इन्द्रिय-कर्मोंको और प्राण-कर्मोंको खींच ।
करते हवन ज्ञानसे दीपित आत्म-नियम योगानल-बीच ॥

२८

द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ योगमय यज्ञ करें कुछ लोग तथैव ।
ज्ञान और स्वाध्याय-यज्ञको ब्रह्मव्रती यति करें सदैव ॥

२९

होमें प्राण अपान-वायुमें और प्राणमें तजे अपान ।
रोकें प्राण अपान-वेगको प्राणायाम-निमग्न सुजान ॥

३०

कर नियमित आहार, हवन जो करते प्राणोंमें ही प्राण ।
यज्ञ-विज्ञ हैं वे ही मानव उनको तू निष्कल्मष जान ॥

३१

यज्ञ-शेषके खानेवाले पावें ब्रह्म सनातन तात ! ।
यज्ञ-रहितका नहीं लोक यह स्वर्गलोककी फिर क्या बात ॥

३२

पार्थ ! ब्रह्मके मुखमें होते इस प्रकारसे यज्ञ अनेक ।
कर्मज हैं ये जान, इसीसे मोक्ष प्राप्त होगा सविवेक ॥

३३

द्रव्य-यज्ञसे यज्ञ श्रेष्ठ वह जिसको सब कहते हैं ज्ञान ।
क्योंकि, सभी कर्मोंका होता इसी ज्ञानमें पर्यवसान ॥

३४

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

३५

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

३६

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

३७

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

३८

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

३९

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

४०

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

३४

ध्यान रहे प्रणिपात, प्रश्नसे और किये सेवासे पार्थ ! ।
तत्त्ववेत्ता ज्ञानी-जन वह देंगे तुझको ज्ञान यथार्थ ॥

३५

मोह नहीं तुझको फिर होगा पा करके यह ऐसा ज्ञान ।
अपनेमें, मेरेमें भी तू देखैगा सब जीव समान ॥

३६

सब पापी पुरुषोंसे भी यदि तू है अति ही पापाचार ।
तो भी ज्ञान-नावपर चढ़कर होगा सब पापोंसे पार ॥

३७

जैसे जलती अग्नि, समिधको कर देती है भस्म तुरन्त ।
वैसे ज्ञान-अनल भी अर्जुन ! जला डालती कर्म अनन्त ॥

३८

नहीं वस्तु कुछ और जगतमें है पवित्र इस ज्ञान-समान ।
योग-सिद्धिसे, समय हुए पर, अपनेमें नर पाता ज्ञान ॥

३९

श्रद्धावान, जितेन्द्रिय, तत्पर नरको यह मिलता है ज्ञान ।
ज्ञान प्राप्तकर फिर तुरन्त वह हो जाता है शान्ति-निधान ॥

४०

हो विनष्ट वह संशययुत जो अज्ञानी है, श्रद्धा-हीन ।
यह न, तथा परलोक मिले, उस संशयवालेको सुख भी न ॥

४१

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥

४२

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास-
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

४१

जिसने कर्म, योगसे त्यागे, किये ज्ञानसे संशय दूर।
आत्मवान उस मानवको फिर कर्म नहीं बाँधे हे शूर! ॥

४२

इससे इस अज्ञानज भ्रमको काट ज्ञानकी ले तलवार।
कर्म-योगका आश्रय लेकर उठ लड़नेको हो तैयार ॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

ॐ

पञ्चमोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

२

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

३

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

४

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

५

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

६

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

ॐ

पाँचवाँ अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

कर्म-योग बतलाते हो अब पहले कहा कर्मका त्याग।
निश्चय मुझे एक बतलाओ जो हो अधिक श्रेय, बड़भाग ! ॥

२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

न्यास कर्मका और योग, ये दोनों मोक्षप्रद हैं पार्थ ! ।
पर इनमें है कर्म-त्यागसे कर्मयोग ही श्रेष्ठ यथार्थ ॥

३

नहीं द्वेष, आकाङ्क्षा जिसको वह पूरा संन्यासी, वीर ! ।
द्वन्द्व-मुक्त वह, अनायास ही मुक्त बन्धसे होता धीर ॥

४

सांख्य, योगको भिन्न मूढजन कहते, पंडित नहीं सुजान ।।
पूर्ण आचरण करें एकका फल दोनोंका मिले समान ॥

५

जहाँ सांख्यवाले जाते हैं योगी भी पाते वह स्थान।
जिसने सांख्य, योग सम जाना उसने तत्त्व लिया पहचान ॥

६

बिना योग संन्यास-प्राप्ति यह अति दुर्लभ होती है तात ! ।
योग-युक्त मुनि जो होता है पाता वही ब्रह्म, अचिरात ॥

७

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

८

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥

९

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

१०

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

११

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

१२

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

१२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

७

योग-युक्त, मन शुद्ध, जितेन्द्रिय, आत्मजयी जो हुआ यथार्थ।
करता हुआ कर्म समदर्शी नहीं लिप्त होता है पार्थ ! ॥

८

योग-युक्त तत्त्वज्ञ मानता कुछ भी नहीं करूँ मैं आप।
लखना, सुनना, स्पर्श, सूँघना, खाना, जाना, जीना, स्वाप ॥

९

कहना, तजना, और पकड़ना, पलक खोलना, करना बन्द।
इनमें यह जाने कि इन्द्रियाँ विषयोंमें वर्ते स्वच्छन्द ॥

१०

संगरहित हो ब्रह्मार्पण कर जो कर्मोंको करता आप।
जल ज्यों कमल-पत्रपर, वैसे लगता नहीं उसे कुछ पाप ॥

११

कायासे, मन और बुद्धिसे केवल इन्द्रियसे भी पार्थ ! ।
संग छोड़कर योगी-जन यों करते कर्म आत्मशोधार्थ ॥

१२

जो है युक्त, कर्म-फल तज वह पूर्ण शान्तिको पाता भक्त।
जो अयुक्त है बँध जाता वह, कर्म-फलोंमें हो आसक्त ॥

१३

मनसे तजकर कर्म जितेन्द्रिय देहवान मानुष, हे वीर ! ।
बिना किये करवाये बसता नवद्वार-पुरमें, वह धीर ॥

१४

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

१५

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

१६

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

१७

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

१८

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

१९

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

२०

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥

१४

लोगोंके कर्तृत्व, कर्म फिर कर्मो और फलोंका मेल ।
ईश्वर रचता नहीं, प्रकृतिके ये होते हैं सारे खेल ॥

१५

ईश न लेता पुण्य किसीका नहीं किसीका लेता पाप ।
है पर्दा अज्ञान ज्ञानपर जिससे मोहित प्राणी आप ॥

१६

जिनका आत्मज्ञानके द्वारा मिट जाता है सब अज्ञान ।
कर देता है ज्ञान उन्हींका तत्त्व प्रकाशित सूर्य समान ॥

१७

उसमें लगा बुद्धि आत्माको हो तन्निष्ठ तथा तत्पर ।
निष्कलमप होकर विवेकसे जन्म न लेते फिर वे नर ॥

१८

विद्या और विनययुत ब्राह्मण, धेनु और हाथी वलवान ।
कुक्कुर तथा श्वपच इन सबको देखें पंडित लोग समान ॥

१९

जिनने रखा साम्यमें मनको उनने जीत लिया संसार ।
सम निर्दोष ब्रह्म है, इससे, मिलता उन्हें ब्रह्म-आधार ॥

२०

पा प्रिय वस्तु न हर्षित हो जो अप्रियको पा सुखसे हीन ।
स्थिर-मति, ब्रह्म-विज्ञ, निर्मोही वही ब्रह्ममें होता लीन ॥

२१

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

२२

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

२३

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

२४

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

२५

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

२६

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

२७

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

२१

विषय-भोगमें अनासक्तको आत्मामें जो सुख हो प्राप्त ।
वैसा ब्रह्म-योगयुत मानव पाता अक्षय सुख पर्याप्त ॥

२२

बाह्य-वस्तु-संयोग, भोग हैं दुखके कारण सभी यथार्थ ।
ये होते मिटते रहते हैं इनमें फँसे न बुधजन, पार्थ ! ॥

२३

काम-क्रोधके प्रबल वेगको मरण-कालतक जो मतिमान ।
हो समर्थ सहता इस जगमें युक्त वही नर सुखी महान ॥

२४

जो आपेमें सुखी, रमे जो अपनेमें ही ज्योति प्रकाश ।
ब्रह्म-रूप होते वे योगी पाते परम ब्रह्ममें वास ॥

२५

आत्मसंयमी, पापरहित जो होकर द्वन्द्व-बुद्धिसे हीन ।
सर्वभूत-हित रत रहते हैं वे ही होते ब्रह्म विलीन ॥

२६

तजकर काम, क्रोधको जो यति संयम आत्मज्ञान-सम्पन्न ।
चारों ओर ब्रह्मको पाता उभय लोकमें रहे प्रसन्न ॥

२७

बाह्य-विषय कर दूर, दृष्टिको अपने भ्रकुटी-युगमें धार ।
सम कर प्राण अपान, करे जो नासाके भीतर संचार ॥

२८

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

२९

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यास-
योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

२८

इन्द्रिय, मन, मति रोक, क्रोध, भय तज, इच्छामें हो न प्रयुक्त।
मोक्ष-परायण ऐसे मुनिको जान सदा ही भवसे मुक्त॥

२९

भोक्ता मुझको यज्ञ तपोंका और नाथ लोकोंका, तात!।
जाने सुहृद प्राणियोंका भी, वही मोक्ष पाता अचिरात॥

पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥५॥

ॐ

षष्ठोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

२

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

३

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

४

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

५

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

६

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

ॐ

छठा अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

फल तज योग्य कर्म जो करता वह योगी संन्यासी जान ।
हवन, कर्म तजनेवालेको सच्चा योगी कभी न मान ॥

२

जिसे कहें संन्यास उसे ही योग चाहिये कहना वीर ! ।
संकल्पोंके त्याग बिना नर योगी होता कभी न धीर ॥

३

योगसिद्धि-इच्छुक मानवके लिये कर्म कारण है, पार्थ ! ।
योग सिद्ध होनेके पीछे कारण होती शान्ति यथार्थ ॥

४

अनासक्त विषयोंमें रहकर कर्मोंमें भी रखे विरक्ति ।
तज देवे संकल्प सभी तब योगारूढ़ कहाता व्यक्ति ॥

५

निज उद्धार करे निजसे नित, निजको नहीं गिरावे, तात ! ।
आत्मा ही आत्माका वैरी आत्मा ही आत्माका भ्रात ॥

६

जिसने जीता स्वयं आपको है वह अपना बन्धु महान ।
बिन जाने वह स्वयं आपसे करे शत्रुता शत्रुसमान ॥

७

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा. मानापमानयोः॥

८

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

९

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

१०

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

११

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

१२

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

१३

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

७

आत्मजयी, अतिशान्त पुरुषका आत्मा रहता सदा समान ।
शीत, उष्ण, सुख, दुख भी पाकर मान तथा अपमान महान ॥

८

ज्ञान तथा विज्ञान-पूर्ण जो हो कूटस्थ, जितेन्द्रिय, पार्थ ! ।
मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण एक-सा जो जाने सो युक्त यथार्थ ॥

९

सुहृद, मित्र, मध्यस्थ, वन्धुसे, उदासीन, रिपुसे न द्वेष ।
साधु, दुष्टमें सम मति जिसकी वही पुरुष है योग्य विशेष ॥

१०

योगी चित्तजयी एकाकी, करे सदा एकान्तनिवास ।
तजकर आशा, संग्रह सारे, करे निरन्तर योगाभ्यास ॥

११

योगी अपने आसनको स्थिर करे देख सम, पावन देश ।
प्रथम कुशा, कुशपर मृगछाला, उसपर डाले वस्त्र विशेष ॥

१२

मनको कर एकाग्र, रोककर चित्त और इन्द्रिय-व्यापार ।
आत्म-शुद्धि-हित उस आसनपर जमकर साधे योगाचार ॥

१३

धड़को, शिरको, ग्रीवाको फिर रख सीधी सुस्थिर होकर ।
दृष्टि नाकके अग्रभागमें जमा, न देखे इधर उधर ॥

१४

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

१५

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

१६

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

१७

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

१८

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

१९

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

२०

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

१४

शान्तचित्त हो ब्रह्मचर्य-व्रत रखता हुआ निडर होकर।
मन-संयम कर, मुझमें चित दे युक्त बने होकर मत्पर॥

१५

नियत-चित्त जो योगी ऐसे सन्तत रहता योगासक्त।
मुझमें स्थित, निर्वाण-रूपिणी शान्ति वही पाता है भक्त॥

१६

अति खाने, भूखे रहनेसे या अति सोनेसे भी, पार्थ!।
अथवा अति जगते रहनेसे योग सिद्ध हो नहीं यथार्थ॥

१७

हो आहार, विहार युक्त सब, और युक्त ही हों सब कार्य।
सोना, जगना भी परिमित हो, दुख-हर योग तभी हो आर्य!॥

१८

यह संयत मन आत्माहीमें स्थिरतासे होता जब युक्त।
और कामना सब हट जाती, पुरुष 'कहाता' है तब युक्त॥

१९

ज्यों निर्वात स्थानमें दीपक-ज्योति सदा रहती, अभ्राम्य।
चित्त नियत कर योग साधते, योगीका वैसा है साम्य॥

२०

संयत होकर योग युक्तिसे लेता चित्त जहाँ विश्राम।
जहाँ तुष्ट होकर आत्मामें आत्माको देखे अविराम॥

२१

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

२२

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

२३

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

२४

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

२५

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

२६

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

२७

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

२१

इन्द्रियगणसे परे बुद्धिसे यह अनन्त सुख जाना जाय।
और जहाँपर तत्वज्ञानसे निश्चलता इसको आ जाय॥

२२

पाकर जिसे लाभ फिर जगमें अधिक नहीं माने कुछ और।
जिसमें स्थित हो विचलित होता कभी न पाकर दुख भी घोर॥

२३

उसको जान योग-संज्ञक तू सकल दुखोंसे रहित नितान्त।
साधन करने योग्य वही है निश्चय मनको करके शान्त॥

२४

संकल्पोंसे होनेवाली सभी वासनाएँ तब छोड़।
सकल इन्द्रियोंको फिर मनसे सभी ओरसे लेवे मोड़॥

२५

धीरे धीरे धैर्य-बुद्धिसे मनको करे आत्म-संयुक्त।
हो उपराम, चित्तको कर दे अन्य विषय-चिन्तनसे मुक्त॥

२६

यह मन अस्थिर अति चञ्चल फिर जहाँ जहाँसे करे निकास।
वहाँ वहाँसे रोक इसे, वश करके लावे आत्मा-पास॥

२७

जो रजसे है रहित, शान्त-मन ब्रह्मभूत भी, है निष्पाप।
उस योगीको वह उत्तम सुख मिल जाता है अपने आप॥

२८

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

२६

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

३०

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

३१

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

३२

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

३३

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

३४

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

२८

योगाभ्यास निरन्तर ऐसे करनेवाले योगी लोग।
पापरहित हो ब्रह्म-स्पर्शके अति सुखका करते उपभोग॥

२९

योगयुक्त सम-दर्शी मानव लगे देखने यों सर्वत्र।
सब जीवोंमें मैं हूँ, मुझमें हैं सारे प्राणी एकत्र॥

३०

जो नर देखे मुझको सबमें स्थित, मुझमें सबको भरपूर।
वह जन मुझसे दूर नहीं है मैं भी उससे रहूँ न दूर॥

३१

जो एकत्व-बुद्धिसे मुझको भजता सब जीवोंमें जान।
करता हुआ कार्य भी सारे वह मुझमें ही रहे निदान॥

३२

जो औरोंके सुख वा दुखको समझे निज सुख-दुःख समान।
हे भारत! वह निःसंशय ही होता योगी सर्वप्रधान॥

३३

अर्जुनने कहा—

साम्य-बुद्धिसे प्राप्य योग यह जो बतलाया तुमने तात!।
मनकी चंचलताके कारण मुझे हो रहा अस्थिर ज्ञात॥

३४

क्योंकि कृष्ण! यह मन चंचल है, दृढ़ है, हठी और बलवान।
इसका निग्रह वायु-सरीखा दिखता मुझको कठिन महान॥

३५

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

३६

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

३७

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥

३८

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

३९

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

४०

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

३५

श्रीभगवान्ने कहा—

अर्जुन! मन चंचल है; इसका निग्रह करना कठिन अवश्य।
किन्तु पार्थ! अभ्यास तथा वैराग्य कियेसे हो यह वश्य॥

३६

चंचल मनवाले मानवको मेरे मतसे दुर्लभ योग।
मनको वश रख, यत्न कियेसे इसे प्राप्त करते हैं लोग॥

३७

अर्जुनने कहा—

विचलित हुआ योगसे अनियत मनवाला श्रद्धाके साथ।
योगसिद्धिको प्राप्त न कर फिर किस गतिको पाता, हे नाथ!॥

३८

ब्रह्म-मार्गसे अज्ञ निराश्रय उभय ओरसे होकर भ्रष्ट।
छिन्न-भिन्न बादल-समान वह क्या हो जाता है फिर नष्ट!॥

३९

कृष्ण! चाहिये तुम्हें मेटना यह मेरा ऐसा सन्देह।
तुम्हें छोड़ है कौन दूसरा, जो मेटे इसको सस्नेह॥

४०

श्रीभगवान्ने कहा—

अर्जुन! उभय लोकमें उसका कभी नहीं होता है नाश।
क्योंकि सुकृत करनेवालेके दुर्गति नहीं फटकती पास॥

४१

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

४२

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

४३

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

४४

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

४५

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

४६

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

४७

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

४१

स्वर्गादिक लोकोंको पाकर वर्षोंतक, रह वहाँ प्रसन्न।
पावन श्रीमानोंके घरमें योगभ्रष्ट होता उत्पन्न॥

४२

या लेता है विज्ञ योगियोंके ही कुलमें वह अवतार।
इस प्रकारका जन्म लोकमें अति दुर्लभ है पाण्डुकुमार!॥

४३

वहाँ जन्म ले पूर्व-जन्मकी मतिको पाकर वह नर-रत्न।
उससे अधिक सिद्धि पानेका करता रहता सदा प्रयत्न॥

४४

पूर्वाभ्यासयोगके बलसे उसी ओर झुक कर लाचार।
योग-सिद्धिका इच्छुक होकर जाता शब्दब्रह्मके पार॥

४५

यत्न-सहित वह योगाभ्यासी जन्म अनेकोंके पश्चात!।
सब पापोंसे विमुक्त होकर उत्तम गति पाता अचिरात॥

४६

तपस्वियोंसे, विवेकियोंसे, और कर्म-निष्ठोंसे वीर!।
योगी ही उत्तम माना है, इससे योगी हो रणधीर॥

४७

जो श्रद्धायुत होकर मानव मुझको भजता धरकर ध्यान।
सकल योगियोंमें मैं भारत! उसको समझूँ युक्त महान॥

छठा अध्याय समाप्त हुआ॥६॥

ॐ

सप्तमोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

२

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

३

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

५

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

६

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

ॐ

सातवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

मुझमें मन दे, मम आश्रय ले, करता हुआ योग तू वीर !।
जैसे निःसंशय तू मुझको जानेगा, सो सुन रणधीर ! ॥

२

कहता हूँ विज्ञान-सहित मैं पूर्ण ज्ञान वह तुझको तात ।
शेष जानना रहे न जगमें जिसे जाननेके पश्चात ॥

३

पुरुष हजारोंमें कोई-सा यत्न सिद्धि-हित करे सुजान ।
उन सिद्धोंमेंसे भी कोई पाता मेरा सच्चा ज्ञान ॥

४

भू, जल, अग्नि, वायु, पंचम नभ, अहंकार, मन, बुद्धि-पदार्थ ।
ऐसे आठ प्रकार प्रकृति यह भिन्न हुई है मेरी पार्थ ! ॥

५

यह है 'अपरा' प्रकृति वीरवर इससे भिन्न 'परा' को जान ।
जीवभूत है, जिससे सारा यह जग ठहरा हुआ महान ॥

६

इस जगके ये सारे प्राणी हैं इन दोनोंसे उत्पन्न ।
मैं सब जगको पैदा करता मैं ही करता हूँ उत्सन्न ॥

७

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

८

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

९

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

११

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

१२

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

१३

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

७

यहाँ विश्वमें मुझसे परतर और नहीं कुछ भी है पार्थ ! ।
एक सूत्रमें मणिगणके सम गुथे मुझीमें सकल पदार्थ ॥

८

जलमें रस, रवि और चन्द्रमें प्रभा, वेदमें हूँ ओंकार ।
शब्द गगनमें हूँ हे भारत ! पुरुषोंमें हूँ पौरुष सार ॥

९

भूमि-बीच मैं पुण्य-गन्ध हूँ और अग्निमें तेज विचित्र ।
सब जीवोंमें जीवन मैं हूँ तापस जनमें हूँ तप मित्र ! ॥

१०

सकल प्राणियोंका हे भारत ! बीज सनातन मुझको जान ।
बुद्धि बुद्धिमानोंमें मैं हूँ, तेज तेजवालोंमें मान ॥

११

कामरागसे रहित मुझे ही बलवानोंका बल तू जान ।
और धर्म-अनुकूल काम हूँ सब जीवोंमें हे मतिमान ! ॥

१२

ये मुझहीसे बने हुए हैं सत, रज, तममय सकल पदार्थ ।
ये मुझमें है पर मैं इनमें कभी नहीं रहता हूँ पार्थ ॥

१३

इन त्रिगुणात्मक भावोंसे ही मोहित होकर सब संसार ।
नहीं जानते मुझ अव्ययको मैं इनसे रहता हूँ पार ॥

१४

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

१५

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

१६

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

१७

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

१८

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

१९

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

२०

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

१४

मेरी इस दैवी त्रिगुणात्मक मायाका दुस्तर विस्तार ।
जो मेरे शरणागत आते वे होते हैं इससे पार ॥

१५

मायासे हृतज्ञान नराधम करते जो दुष्कृत पर्याप्त ।
आसुर-भाव निबद्ध मूढ़ वे होते नहीं शरणको प्राप्त ॥

१६

चार भाँतिके पुण्यवान जन मुझको भजते हैं, हे वीर ! ।
आर्त, ज्ञान-इच्छुक, धन-कामी, चौथा ज्ञानी जन गम्भीर ॥

१७

इनमें उत्तम नित्ययुक्त है ज्ञानी रखे भक्ति उद्देश ।
क्योंकि मुझे ज्ञानी प्यारा है मैं प्यारा हूँ उसे विशेष ॥

१८

हैं ये उत्तम सभी भक्त पर ज्ञानी मेरा आत्मा मान ।
मन देता शरणागत होता, सर्वोत्तम गति मुझको जान ॥

१९

बहु जन्मोंके अन्त जन्ममें, ज्ञानी यों भजता मतिमान ।
'जो कुछ है सब वासुदेव है' पर ऐसा नर दुर्लभ जान ॥

२०

भिन्न भिन्न कामोंमें फँसकर निज निज भिन्न प्रकृति अनुसार ।
जुदे जुदे रख नियम, अन्य ही देवोंका लेते आधार ॥

२१

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

२२

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

२३

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

२४

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

२५

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

२६

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

२७

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

२१

जो जो जिस जिस देव-मूर्तिको श्रद्धा-सहित पूजता तात ! ।
उसकी श्रद्धाको उसहीमें स्थिर कर देता हूँ अचिरात ॥

२२

उस श्रद्धासे युक्त हुआ वह उसी देवको भजे हितार्थ ।
उससे वह इच्छित फल पाता मेरे रखे हुए ही पार्थ ! ॥

२३

पर ये अल्पबुद्धिवाले नर होते नश्वर फलमें सक्त ।
देव-भक्त देवोंको पाते मुझको पाते मेरे भक्त ॥

२४

उत्तम अव्यय मम स्वरूपको नहीं जानकर मूढ महान ।
मुझको, जो अव्यक्त महा हूँ, व्यक्त हुआ लेते हैं मान ॥

२५

मैं स्वयोगमायासे आवृत प्रगट नहीं होता, हूँ गूढ ।
मैं अज हूँ, अव्यय हूँ ऐसा नहीं जानते हैं वे मूढ ॥

२६

हुए और जो हैं, जो होंगे उन सबका है मुझको ज्ञान ।
पर न किसी भी जनको मेरा ज्ञान यथार्थ हुआ, सच जान ॥

२७

इच्छा और द्वेषसे जो कुछ होते हैं सुखदुःख पदार्थ ।
उससे मोहित हो जाते हैं जगमें सब प्राणी, हे पार्थ ! ॥

२८

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

२९

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

३०

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

२८

पर अति पुण्यवान मानव जो हो जाते पापोंसे मुक्त ।
द्वन्द्व-मोहसे रहित हुए वे भजते मुझको दृढता-युक्त ॥

२९

मेरे आश्रित करे कर्म जो जन्म-मृत्यु छुटनेका पार्थ ।
परम ब्रह्म, अध्यात्म और सब कर्म जान लें वही यथार्थ ॥

३०

मुझको जो अधिभूत और अधिदेव तथा अधियज्ञ महान ।
जानें, वे निज अन्तकालमें भी मुझको लेते पहचान ॥

सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

ॐ

अष्टमोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥

२

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

३

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

४

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

५

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

६

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

ॐ

आठवाँ अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

ब्रह्म कौन ? अध्यात्म कौन है ? और कौन है कर्म तथैव ? ।
पुरुषोत्तम ! अधिभूत कौन है ? किसको कहते हैं अधिदैव ? ॥

२

कैसा है अधियज्ञ, कौन है इस शरीरमें हे भगवान ! ।
स्थिरमनवाले कैसे तुमको अन्त समय लेते पहचान ? ॥

३

श्रीभगवान्‌ने कहा—

परमाक्षर है ब्रह्म, वस्तुका मूलभाव अध्यात्म सुजान ! ।
जो जगकी उत्पत्ति वृद्धिको करता, है वह कर्म महान ॥

४

क्षर अधिभूत कहाता है, यह पुरुष कहाता है अधिदैव ।
सबकी देहोंमें स्थित रहता मैं ही हूँ अधियज्ञ तथैव ॥

५

देह त्यागता हुआ अन्तमें मुझको भजता जो सस्नेह ।
वह मेरे स्वरूपमें आकर मिल जाता है निःसन्देह ॥

६

अन्तसमयमें देह छोड़ता जिन भावोंका करता ध्यान ।
उसी भावमें रँगा हुआ वह उसी भावमें मिले सुजान ॥

७

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

८

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

९

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

१०

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

११

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

१२

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

१३

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

७

इससे सभी काल मुझको रख स्मरण, और रणमें लड़ पार्थ ।
रखनेसे मन बुद्धि मुझीमें होगा मुझको प्राप्त यथार्थ ॥

८

युक्त हुआ अभ्यास-योगसे अपने स्थिर मनसे विद्वान ।
परम पुरुषका ध्यान लगाता हुआ उसीमें मिले निदान ॥

९

सर्वज्ञ, प्राचीन, त्रिलोकशास्ता, अत्यन्त ही सूक्ष्म, समस्त धाता ।
अचिन्त्यरूपी रवि-सा सुहाता तमः परेको मन-बीच लाता ॥

१०

प्रयाणमें निश्चल चित्तसे जो हो भक्तिसे संयुत योगसे जो ।
भ्रूमध्यमें प्राण लगा भजे. जो मिले उसे ब्रह्म परात्परे जो ॥

११

जिसे कहे अक्षर वेद ज्ञाता जहाँ विरागी यति-वृन्द जाता ।
जिसे व्रती हो मन-बीच लाता संक्षेपसे मैं तुझको सुनाता ॥

१२

सब द्वारोंका संयम करके हृदय बीच मन रख निर्वाद ।
मस्तकमें प्राणोंको लेकर योग-धारणाको यों साध ॥

१३

'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मको जपता भजता मुझको सन्त ।
देह छोड़ करके जो जाता उसे परम गति मिले तुरन्त ॥

१४

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

१५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

१६

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

१७

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

१८

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

१९

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

२०

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

१४

मन अनन्यसे नित्य निरन्तर जो करता है मेरा ध्यान ।
नित्ययुक्त उस योगीको मैं सुलभ रीतिसे मिलूँ निदान ॥

१५

मुझको पाकर, पुनर्जन्म जो है अनित्य, दुःखोंका स्थान ।
उन्हें नहीं मिलता है, वे तो परम सिद्धिको पाये जान ॥

१६

ब्रह्मलोक तक सभी लोक हैं अर्जुन ! पुनरावर्ति, तथापि ।
मुझको प्राप्त हुए पीछे तो पुनर्जन्म हो नहीं कदापि ॥

१७

युग हजार पर्यन्त ब्रह्मका एक दिवस होता है तात ! ।
अहोरात्रविद् यह कहते हैं युग हजारकी होती रात ॥

१८

यह अव्यक्त ब्रह्म दिनमें सब बन जाते हैं व्यक्त पदार्थ ।
रात हुएसे फिर उसहीमें हो जाते हैं लीन यथार्थ ॥

१९

जीवोंका समुदाय अवश हो बार बार होकर उत्पन्न ।
दिन होनेसे पैदा होता रात हुए होता उत्सन्न ॥

२०

इनसे पर है एक और भी अविनाशी अव्यक्त पदार्थ ।
सब जीवोंका नाश हुए भी नष्ट नहीं होता है पार्थ ॥

२१

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

२२

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

२३

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

२४

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

२५

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

२६

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

२७

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

२१

जो अक्षर, अव्यक्त कहाता, कहते हैं गति जिसे महान।
नहीं लौटते जिसको पाकर, है वह मेरा परम स्थान॥

२२

जिसके भीतर सकल जीव हैं यह सब जग जिससे है व्याप्त।
पार्थ! अनन्य भक्तिसे ऐसा परम पुरुष होता है प्राप्त॥

२३

जिसमें योगी-जन तनु तजके नहीं लौटते हैं जन्मार्य।
अथवा आते जन्महेतु हैं वही काल कहता हूँ पार्थ!॥

२४

अग्नि ज्योति, दिन शुक्ल पक्ष जब, हो रवि उत्तरमें छः मास।
जो इनमें जाते वे पाते उसी ब्रह्मको, उसके दास॥

२५

धूम, निशा हो, कृष्ण पक्ष हो, जब हो रवि दक्षिण, छः मास।
इनमें जो जाते वे, आते चन्द्रलोकमें करके बास॥

२६

ऐसी शुक्ल-कृष्ण गतियाँ दो इस जगकी मानें विद्वान।
आते नहीं एकसे, वापिस हों द्वितीयसे लोग निदान॥

२७

इन गतियोंसे विज्ञ युक्त जन नहीं मोहमें फँसते वीर!।
इससे तू तो सदा सर्वदा योगयुक्त हो; हे रणधीर!॥

२८

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

२८

जो वेदमें, यज्ञ, तथा तपोंमें दानादिमें पुण्य कहा हुआ है।
यों ज्ञान पा छोड़ इन्हे यहाँ ही योगी महा उत्तम स्थान पाता॥

आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

ॐ

नवमोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

२

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

३

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

४

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

५

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

६

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

ॐ

नवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

नहीं दोषदर्शी अब तू है इससे महा गुप्त यह ज्ञान।
बतलाता विज्ञान-सहित हूँ मुक्त पापसे होगा जान॥

२

यह सब विद्याओंमें राजा अति उत्तम है परम पवित्र।
बोधगम्य प्रत्यक्ष, सुखावह, अव्यय और धर्म्य है मित्र!॥

३

इसपर श्रद्धा-विरहित मानव मुझको कभी न पाकर पार्थ!।
मृत्यु-युक्त इस जगके मगमें आते जाते हैं जन्मार्थ॥

४

निज अव्यक्तरूपसे मैंने फैलाया है सब संसार।
मुझमें सब प्राणी हैं पर तू उनमें मुझको नहीं विचार॥

५

मुझमें सारे भूत नहीं हैं देखो मेरा योग-प्रभाव।
सर्वाधार विश्व-पालक हो रखता उसमें नहीं लगाव॥

६

जिस प्रकार सर्वत्र सर्वदा नभमें रहता वायु महान।
उस प्रकार ही हे भारत! तू सब जीवोंको मुझमें जान॥

७

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

८

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

९

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

१०

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

११

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

१२

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

१३

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

७

मेरी प्रकृतिबीच आ मिलते जीव, कल्पका जब हो अस्त।
कल्पारम्भ समयमें मैं फिर पैदा करता जीव समस्त॥

८

कर स्वाधीन प्रकृति अपनी मैं पूर्णरूपसे पाण्डुकुमार।
मायाके वश भूत-संघको पैदा करता बारम्बार॥

९

मुझको वे सब कर्म बाँधते कभी नहीं हे अर्जुन वीर!।
अनासक्त इनमें रहता हूँ उदासीन-सा होकर धीर॥

१०

यही प्रकृति ले आश्रय मेरा जग उपजाती बारम्बार।
इस ही कारणसे हे अर्जुन! परिवर्तित होता संसार॥

११

परम भाव मेरा न जानते सबका ईश्वर मैं हूँ गूढ़।
नरतनुधारी मुझे समझकर मेरी करें अवज्ञा मूढ़॥

१२

निष्फल आशा, कर्म, ज्ञान है और बुद्धि जिनकी विक्षिप्त।
मोहात्मक आसुरी राक्षसी प्रकृतिबीच रहते ये लिप्त॥

१३

दैव प्रकृतिके आश्रयवाले मुझको गिन भूतादि महान।
अव्यय जान अनन्यभावसे करते मेरी भक्ति सुजान॥

१४

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

१५

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

१६

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

१७

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥

१८

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

१९

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

२०

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

१४

करते संकीर्तन नित मेरा यत्न करे दृढ व्रतको धार।
नमस्कार कर भक्तिपूर्ण यों भजते मुझको भली प्रकार॥

१५

भेद, अभेदभावसे कुछ जन, कुछ जन ज्ञानयज्ञसे वीर!।
कुछ जन मुझ विराटको सेते नाना रूपोंमें धर धीर॥

१६

मैं ही श्रौत स्मार्त·यज्ञ हूँ औषध स्वधा यज्ञ आधार।
मैं ही मन्त्र, अग्नि, घृत मैं ही, आहुति भी हूँ पाण्डुकुमार॥

१७

मैं हूँ माता पिता विश्वका और पितामह जगदाधार।
मैं ही हूँ ऋक्, साम, यजु, श्रुति, और ज्ञेय मैं ही ओंकार॥

१८

गति, पोषक, साक्षी, प्रभु मैं हूँ शरण, सखा हूँ वास, निधान।
उत्पत्ति प्रलय स्थिति मैं हूँ अव्यय बीज मुझे ही जान॥

१९

मैं ही मेघ रोकता तपता, मैं ही वर्षाता हूँ वृष्टि।
अमृत, और मैं मृत्युरूप हूँ, मैं ही पार्थ! असत् सत् सृष्टि॥

२०

वेदज्ञ, पी सोम, अपाप चाहें स्वर्लोकको, पूज मुझे मखोंसे।
सुरेन्द्रके पावनलोकमें जा, वे दिव्य भोगादिक भोगते हैं।

२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

२२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

२३

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

२४

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

२५

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

२६

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

२७

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

२१

वे भोगके स्वर्ग विशाल सारे आते महीपर, फल बीतते ही।
वेदानुसारी जन कामकामी सदैव आवागमको करें यों॥

२२

हो अनन्य जो मेरा चिन्तन करते, भजते मुझे सप्रेम।
नित्य योग-युत उन पुरुषोंका मैं करता हूँ योगक्षेम॥

२३

और देवताओंको भजते जो मानव हो श्रद्धाधीन।
वे भी मुझको ही भजते हैं पर भजते हैं विधिसे हीन॥

२४

सब यज्ञोंका भोक्ता, स्वामी मैं हूँ तू गिन सच यह बात।
वे न जानते मुझे तत्त्वसे इसीलिये गिरते हैं तात॥

२५

सुरसमीप सुरपूजक जाते पितरपास पितरोंके दास।
भूतसमीप भूतके पूजक मेरे सेवक मेरे पास॥

२६

पत्र, पुष्प, फल, जल जो मेरे अर्पण करे सभक्ति विनोद।
प्रयत-चित्तके दिये हुए उसको मैं खाता हूँ सह-मोद॥

२७

जो कुछ कर्म, खानपानादिक, हवन और तप अथवा दान।
करता है, हे कुन्तीसुत! वे सब अर्पण कर मुझे सुजान!॥

२८

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

२९

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

३०

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

३१

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

३२

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

३३

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

३४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

२८

यों शुभ और अशुभ कर्मोंके बन्धोंसे होगा तू मुक्त ।
मुझको होगा प्राप्त शीघ्र ही, हो संन्यास-योगसे युक्त ॥

२९

नहीं मुझे प्रिय, अप्रिय कोई मैं हूँ सबमें एक समान ।
जो भजते हैं मुझे भक्तिसे मैं उनमें, वे मुझमें जान ॥

३०

दुश्चरित्र जन भी मुझको जो हो अनन्य भजता है पार्थ ! ।
मान उसे भी साधु, क्योंकि है उसका निश्चय ठीक यथार्थ ॥

३१

वह तुरन्त धर्मात्मा होता पाता शाश्वत शान्ति तथापि ।
अर्जुन ! सत्य जान यह, मेरा भक्त नष्ट हो नहीं, कदापि ॥

३२

नीच कुलोद्भव अथवा नारी, वणिक् शूद्रतक भी हे पार्थ ! ।
मेरा आश्रय करके पाते उत्तमगति, हों सकल कृतार्थ ॥

३३

पुण्यवान ब्राह्मण-क्षत्रिय फिर परम भक्तकी है क्या बात ? ।
असुख अनित्य लोकमें तू है इससे मुझको भज हे तात ! ॥

३४

मुझमें मन दे, सेवक मेरा हो, प्रणाम, पूजा कर पार्थ ! ।
इसप्रकार तू मत्पर होकर, होगा मुझको प्राप्त यथार्थ ॥

नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

ॐ

दशमोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

२

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

३

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

४

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥

५

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

६

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

ॐ

दसवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

फिर भी मेरे परम वचनको सुन तू महाबाहु हे पार्थ ! ।
तू अतिप्रिय है मुझे, इसीसे, कहता हूँ मैं कल्याणार्थ ॥

२

सुर, महर्षिगणको भी भारत ! नहीं जन्म मेरेका ज्ञान ।
सब प्रकार सुर-महर्षियोंका, कारण आदि मुझे ही जान ॥

३

अज अनादि जो मुझे जानता लोक-महेश्वर अपने आप ।
मोहरहित होकर वह मानव तज देता है सारे पाप ॥

४

बुद्धि, सत्य, विज्ञान, और हो असंमोह, इन्द्रिय-दम, क्षान्ति ।
सुख,दुख और अभाव, तथा भय, और अभय-संयुत,भव, शान्ति ॥

५

तुष्टि, अहिंसा, साम्य, और तप, दान, तथा, यश भी हे पार्थ ! ।
अयश आदि ले होते मुझसे सब जीवोंके पृथक् पदार्थ ॥

६

मेरे मनके भाव हुए, मनु, सात महर्षि, पूर्वके चार ।
हे भारत ! जिनसे होता है इस जगबीच प्रजा-विस्तार ॥

७

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

८

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

९

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

१०

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते

११

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

१२

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

१३

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

७

जिसको मेरी इस विभूतिका और योगका ज्ञान यथार्थ।
उस मानवको हो जाती है योगप्राप्ति निश्चय हे पार्थ!॥

८

मैं सबको पैदा करता हूँ मुझसे सभी वर्त्तते तात!।
ज्ञानी ऐसा मान, प्रेमसे मुझको भजते हैं दिनरात॥

९

बोध परस्पर करते, कहते कथा, लगा मुझमें मन प्राण।
वे सन्तुष्ट हुए नर मेरे बीच सदा रहते रममाण॥

१०

नित्य योगसंयुत हो, मुझको भजते हुए, उन्हें सस्नेह।
ऐसी मति देता हूँ जिससे मुझे प्राप्त हों निःसन्देह॥

११

उनपर अनुकम्पा करनेको आत्मामें घुस बिन आयास।
तेजस्वी विज्ञान-दीपसे अज्ञानज तम कर दूँ नास॥

१२

अर्जुनने कहा—

परम ब्रह्म, तुम परम धाम हो और तुम्हीं हो परम पवित्र।
आदिदेव तुम नित्य दिव्य हो अव्यय व्यापक पुरुष विचित्र॥

१३

सब ऋषि, नारद असित व्यास मुनि देवल भी यों कहते ईश!।
और स्वयं तुम भी ऐसा ही मुझसे कहते हो जगदीश!॥

१४

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

१५

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

१६

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

१७

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

१८

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

१९

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥

२०

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

१४

केशव ! जो मुझसे कहते हो उसे मानता सत्य महान ! ।
सुर दानव भी मूल तुम्हारा नहीं जानते हैं भगवान ! ॥

१५

देवदेव ! हे जगत्पते ! तुम सबके धाता हे भूतेश ! ।
स्वयं आपही विज्ञ आपसे हो पुरुषोत्तम ! हे सर्वेश ! ॥

१६

वे विभूतियाँ दिव्य आपकी, जिनसे व्याप्त किया संसार ।
स्वयं आपही कहिये उनको पूर्णतया हे अपरम्पार ? ॥

१७

मैं कैसे तुमको पहचानूँ सदा तुम्हारा धरता ध्यान ।
कौन कौन भावोंसे चिन्तन करूँ आपका हे भगवान ! ॥

१८

निज विभूतियाँ और योग भी विस्तृत कर बतलाओ ईश ! ।
सुनते सुनते सुधा-तुल्य यह तृप्ति नहीं होती जगदीश ! ॥

१९

श्रीभगवान्‌ने कहा—

अब मैं तुमको बतलाता हूँ मेरी दिव्य विभूति प्रधान ।
निश्चय मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है, पार्थ ! सुजान ! ॥

२०

मैं आत्मा हूँ सब जीवोंमें बसनेवाला एक समान ।
सब जीवोंका आदि, मध्य हूँ, और अन्त भी मुझको जान ॥

२१

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥

२२

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

२३

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

२४

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

२५

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

२६

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

२७

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

२१

आदित्योंमें विष्णु, ज्योतियोंमें हूँ मैं रवि तेज विशेष।
हूँ मरीचि मरुतोंमें मैं ही, नक्षत्रोंमें हूँ राकेश॥

२२

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, इन्द्र देव-गणमें हूँ धन्य।
और इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ, सब जीवोंमें हूँ चैतन्य॥

२३

मैं रुद्रोंमें शंकर एवं रक्ष-यक्ष-गणमें धन-ईश।
वसुओंमें पावक, गिरियोंमें मुझको जान सुमेरु गिरीश॥

२४

मुझे वृहस्पति पुरोहितोंमें मुख्य जान हे पाण्डुकुमार!।
सेनापतियों बीच स्कन्द मैं जलाशयोंमें सिन्धु अपार॥

२५

महर्षियोंमें हूँ भृगु मैं ही, वचनोंमें मैं हूँ 'ओंकार'।
स्थावरगणमें शैल हिमालय, यज्ञोंमें जपयज्ञ विचार॥

२६

मैं पीपल हूँ सब वृक्षोंमें, सुर-ऋषियोंमें नारद, पार्थ!।
गन्धर्वोंमें जान चित्ररथ सिद्धोंमें मुनि कपिल यथार्थ॥

२७

अश्वोंमें मैं क्षीरसिन्धुका उच्चैःश्रवा अश्व हूँ वीर!।
और गजोंमें ऐरावत हूँ तथा नरोंमें राजा धीर॥

२८

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

२९

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

३०

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

३१

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

३२

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

३३

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥

३४

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

२८

मैं शस्त्रोंमें वज्र शस्त्र हूँ, कामधेनु गउओंमें जान ।
भुजगोंमें वासुकि भुजंग हूँ, काम सृष्टि उत्पादक मान ॥

२९

मैं नागोंमें शेषनाग हूँ, जल-जीवोंमें वरुण महान ।
मुझे अर्यमा पितरोंमें गिन, दण्ड-धारियोंमें यम जान ॥

३०

मैं प्रह्लाद दानवोंमें हूँ ग्रसनेवालोंमें हूँ काल ।
मैं पशुओंमें सिंह बली हूँ विहगोंमें हूँ गरुड विशाल ॥

३१

वायु वेगवानोंमें मैं हूँ शस्त्र-धारियोंमें हूँ राम ।
मीनवर्गमें मकर, जाह्नवी सरिताओंमें, मेरा नाम ॥

३२

सृष्टिमात्रका आदि अन्त हूँ और मध्य हूँ मैं ही पार्थ ! ।
विद्यामें अध्यात्म-ज्ञान हूँ वादिजनोंमें वाद यथार्थ ॥

३३

हूँ अकार सारे वर्णोंमें द्वन्द्व समासों-बीच विशाल ।
और सर्वतोमुखी विधाता हूँ मैं भारत ! अक्षय काल ॥

३४

क्षयकारी हूँ मृत्यु: सभीकी, आगे सबका जन्म-स्थान ।
कीर्ति, श्री, वाणी, धृति, मेधा, स्मृति, क्षमा स्त्रीगणमें जान ॥

३५

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥

३६

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥

३७

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥

३८

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥

३९

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

४०

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥

४१

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

३५

सामगानमें बृहत्साम हूँ छन्दोंमें गायत्री छन्द।
मासोंमें मैं मार्गशीर्ष हूँ ऋतुओंमें वसन्त सुखकन्द॥

३६

हूँ छलियोंमें द्यूत पार्थ ! मैं तेज तेजवानोंका जान।
जय, निश्चय हूँ और मुझे ही सत्त्वशीलका सत्त्व बखान॥

३७

यादवगणमें वासुदेव हूँ अर्जुन पाण्डुसुतोंमें आर्य !।
मुनियोंमें मैं व्यासदेव हूँ कवियोंमें हूँ शुक्राचार्य॥

३८

दण्ड शासकोंमें मैं ही हूँ जयवालोंकी नीति प्रधान।
गुह्योंमें अति गुह्य मौन हूँ और ज्ञानियोंमें हूँ ज्ञान॥

३९

जो कुछ बीज भूतवर्गोंका है वह मैं हूँ, इसी प्रकार।
मेरे विना चराचर कोई नहीं कहीं भी पाण्डुकुमार !॥

४०

मेरे दिव्य विभूतिवर्गका अन्त नहीं तू कभी विचार।
बस, दिग्दर्शन-हेतु कहा है यह विभूतियोंका विस्तार॥

४१

वैभव, लक्ष्मी या प्रभावसे युक्त वस्तु जो है मतिमान !।
बस, मेरे ही तेज-अंशसे उपजी हुई उसे तू जान॥

४२

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥

४२

अथवा बहुत जानकर इसको क्या करना है? पाण्डुकुमार! ।
मैंने अपने एक अंशसे व्याप्त किया है यह संसार ॥

दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

ॐ

एकादशोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

२

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

३

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

४

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

५

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

६

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥

ॐ

ग्यारहवाँ अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

मुझपर करके कृपा आपने कहा सुगोप्य तत्त्व अध्यात्म ।
इससे मेरा सकल मोह यह दूर हुआ है हे सर्वात्म ! ॥

२

अविनाशी माहात्म्य और यह जीवोत्पत्ति तथा अवसान ।
मैंने यह विस्तारसहित सब सुना आपसे हे भगवान ! ॥

३

जैसा वर्णन किया आपने निजस्वरूपका हे जगदीश ! ।
है इच्छा मैं दिव्य रूप उस ईश्वरीयको देखूँ ईश ! ॥

४

प्रभो ! समझते हो यदि मुझको देख सकूँ मैं वैसा रूप ।
तो योगेश ! दिखाओ मुझको वह निज अव्यय रूप अनूप ॥

५

श्रीभगवान्ने कहा—

पार्थ ! अनेक प्रकार रंगके और कई जिनमें आकार ।
ऐसे शतशः दिव्य हजारों मेरे रूप अनूप निहार ॥

६

यह देखो आदित्य, रुद्र, वसु, मरुत और अश्विनीकुमार ।
पहले कभी न देखे होंगे ऐसे बहु आश्चर्य निहार ॥

७

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

८

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

९

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥

१०

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥

११

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥

१२

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

१३

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

७

इस शरीरमें एकत्रित अब देख चराचर सब संसार।
और तुझे जो इच्छा हो वह देख इसीमें पाण्डुकुमार!॥

८

उस स्वरूपको इन नयनोंसे नहीं देख सकता तू पार्थ!।
तुझको दिव्य दृष्टि देता हूँ देख योग-ऐश्वर्य यथार्थ॥

९

संजयने कहा—

इस प्रकार योगेश्वर हरिने कहकर हे धृतराष्ट्र नृपाल!।
दिखलाया अर्जुनको अपना ईश्वरीय वह रूप विशाल॥

१०

उसके बहु मुख और नेत्र थे एवं अद्भुत दृश्य अपार!।
सुन्दर थे आभूषण उसपर दिव्य अनेक सजे हथियार॥

११

था अद्भुत अनन्त तेजोमय वह अनेक मुखवाला रूप।
दिव्य माल्य, पट सुन्दर, धारे दिव्य गन्धसे लिप्त अनूप॥

१२

यदि नभमें मिल भव्य प्रभाएँ फैलावे रवि एक हजार।
तो समता उस दिव्य रूपकी हो सकती है किसी प्रकार॥

१३

देवदेवके उस शरीरमें पाण्डवने देखा उस काल।
नानाभाँति विभक्त हुआ भी एकत्रित यह जगत विशाल॥

१४

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

१५

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ—
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

१६

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

१७

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

१८

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

१४

तब विस्मयसे पुलकित होकर निज मस्तकको झुका विशेष ।
नमस्कार कर हाथ जोड यों अर्जुन बोला हे सर्वेश ! ॥

१५

अर्जुनने कहा—

नाथ ! तुम्हारे इस शरीरमें देखूँ सभी देवगण मैं ।
देख रहा हूँ और अनेकों प्राणिगणोंको इस क्षण मैं ॥
ब्रह्माको पद्मासन ऊपर, और सकल ऋषियोंको भी ।
तथा देखता हूँ मैं सारे दिव्य रूप अहियोंको भी ॥

१६

नाना बाहु, उदर, मुख, आँखोंयुत निहारता हूँ तुमको ।
चारों ओर अनन्त-स्वरूपी मैं निहारता हूँ तुमको ॥
अन्त, मध्य फिर आदि तुम्हारा नहीं दृष्टिमें आता है ।
विश्वेश्वर ! यह रूप तुम्हारा सकल विश्वमें पाता है ॥

१७

मुकुट और शुभ गदा तथा यह शङ्ख चक्र तुम धरते हो ।
तेज-पुंज हो सकल दिशायें अधिक दीप्तिमय करते हो ॥
अप्रमेयरूपी हो भगवन् ! दुर्निरीक्ष्य हो यहाँ वहाँ ।
दीप्त अग्नि रविके सम तुमको देख रहा हूँ जहाँ तहाँ ॥

१८

परब्रह्म हो तुम्हीं, जानने योग्य ज्ञान हो सब जगके ।
तथा आप ही प्रभो ! मनोहर पर निधान हो सब जगके ॥
नित्य सनातन धर्मोंके तुम रक्षक हो अविनश्वर भी ।
मुझे जान पड़ता है तुम हो नाथ ! सनातन नरवर भी ॥

१९

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

२०

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

२१

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

२२

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

१९

नहीं आदि मध्यान्त तुम्हारा तुम अनन्त बलकारी हो।
हो अनेक भुजशाली प्रभु तुम! रविशशिलोचन-धारी हो॥
जलती हुई प्रचण्ड अग्निकी ज्वाला सम मुख धरते हो।
तुम्हें देखता हूँ स्वतेजसे तप्त विश्वको करते हो॥

२०

व्याप्त किया तुमने ही भूमी और स्वर्गके अन्तरको।
पूर्ण कर रखे तथा तुम्हीने सब दिश और दिगन्तरको॥
अद्भुत, उग्र स्वरूप आपका देख धैर्य निज खोते हैं।
अहो! महात्मन्! इससे तीनों लोक व्यथित अति होते हैं॥

२१

ये शरणमें देवगण सब आ रहे हैं आपके।
डर कर कई कर जोड़ते गुण गा रहे हैं आपके॥
सिद्ध और महर्षि सारे स्वस्ति-वाक्य सुना रहे।
स्तोत्र नाना पढ़ तुम्हारी सब प्रशंसा गा रहे॥

२२

रुद्र और आदित्य तथा वसु, पितर और सुर, साध्य सभी।
और अश्विनीकुमार, विश्वेदेव तथैव मरुद्गण भी॥
यक्ष और गन्धर्व, असुरगण, सिद्ध यहाँपर स्थित होते।
देख रहे हैं नाथ! तुम्हें मनबीच सभी विस्मित होते॥

२३

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

२४

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

२५

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

२६

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

२३

रूप आपका बहुत बड़ा है बहुत नेत्र मुखवाला है।
महाबाहु ! बहु जंघोंवाला बहुत चरण भुजवाला है॥
उदर अनेक तथा बहु भीषण डाढोंयुक्त कराल महा।
इसे देख सब लोक और मैं भगवन् ! भयसे काँप रहा॥

२४

नभसे भिडा हुआ द्युति-संयुत और अनेकों रँगवाला।
भीषण जबड़े खुले, चमकते दीर्घनेत्र, इस ढँगवाला॥
देख रूप ऐसा हे विष्णो ! मनमें अति घबराता हूँ।
धैर्य नहीं मैं धर सकता हूँ, नहीं शान्तिको पाता हूँ॥

२५

डाढोंसे विकराल तुम्हारे ये भीषण मुख हैं ऐसे।
अति प्रचण्ड हो प्रलयकालकी आग धधकती हो जैसे॥
इन्हें देख दिग्भ्रम होता है मुझे नहीं है श्रेय अहो।
हे देवोंके नायक भगवन् ! जगदाधार ! प्रसन्न रहो॥

२६

और प्रभो ! धृतराष्ट्र भूपके आकर ये सारे लड़के।
जो सहाय राजे आये हैं वे भी इनके सँग पड़के॥
भीष्म और आचार्य द्रोण फिर भट कर्णादिक सारे जो।
वे अपने सँग लिये हुए ही योधा मुख्य हमारे जो॥

२७

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

२८

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

२९

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

३०

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

३१

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

२७

डाढोंसे विकराल वदन जो करते शब्द कड़ाकड़ हैं।
इनमें ये सारे भट आकर घुसते नाथ! धड़ाधड़ हैं॥
ये कितने ही वीर आपके दाँतोंबीच दबे अब हैं।
मस्तक कुचले गये जिन्होंके ऐसे ये दिखते सब हैं॥

२८

जलप्रवाह नदियोंके गिरते हैं समुद्रमें शीघ्र यथैव।
तेजोमय तव मुखमें सारे वीर लोकके गिरें तथैव॥

२९

जैसे जलती हुई अग्निमें बड़े वेगसे गिरें पतंग।
मरनेको वैसे इस मुखमें मानव गिरें वेगके संग॥

३०

ज्वलित मुखोंसे लोग निगल कर जिह्वा चाट रहे हो आप।
कर जग व्याप्त तुम्हारी द्युतियें चमक रहीं धर उग्र प्रताप॥

३१

ऐसे उग्र रूपके धारक आप कौन हैं कहिये ईश।
हो प्रसन्न मुझपर, है मेरा नमस्कार तुमको जगदीश!॥
आदि-पुरुष! हो कौन आप, यह मुझे जानना है भगवान!।
क्योंकि तुम्हारी इस प्रवृत्तिका नहीं मुझे कुछ भी है ज्ञान॥

३२

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

३३

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

३४

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

३५

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥

३२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

मैं अत्यन्त विशाल काल हूँ, हूँ लोकोंका भी क्षयकार।
और यहाँपर मैं आया हूँ लोकोंका करने संहार॥
तू यदि कुछ न करे तो भी ये सेनाओंमें जो हैं वीर।
सभी नष्ट होनेवाले हैं ऐसा सत्य जान रण-धीर!॥

३३

इस कारण उठ सुयश प्राप्त कर और जीत ले सब रिपु-लोग।
फिर कर हर्षसहित इस सारे अति सम्पन्न राज्यका भोग॥
मैंने ही पहले हे भारत! मार दिया है इन्हें यथार्थ।
बस केवल निमित्त बनकर ही इस रणमें आगे हो पार्थ!॥

३४

भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण या अन्य सभी जो वीर महान।
मैं तो इनको पहलेसे ही मार चुका हूँ ऐसा जान॥
ऐसे इन सब मरे हुओंको हे भारत! अब तू भी मार।
रणमें लड़ मन मत खेदित कर शत्रु जायँगे निश्चय हार॥

३५

संजयने कहा—

केशवके इस भाषणको सुन राजन्! अर्जुन डरा महान।
गद्गद हो, कर जोड़ नम्र हो, कर प्रणाम यों कहा निदान॥

३६

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

३७

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः॥

३६

अर्जुनने कहा—

जगत तुम्हारे कीर्तनसे है अति हर्षित अनुरक्त विशेष ।
तुमसे डरकर असुर भागते दशों दिशाओंमें सर्वेश ! ॥
सिद्धसंघ भी तुमको ही सब नमस्कार करते हैं ईश ! ।
इन लोगोंका ऐसा करना उचित सर्वदा है जगदीश ! ॥

३७

तुम हो कारण आदि ब्रह्मके और श्रेष्ठ उनसे यह ख्यात ।
अभिवन्दन क्यों नहीं करेंगे प्रभो! आपका वे दिन-रात ॥
हे देवेश अनन्त! आप ही हो सत् असत् जगत् आधार ।
अक्षर तत्त्व तुम्हीं हो हे हरि! जो है इन दोनोंसे पार ॥

३८

आदि-देव हो पुरुष पुरातन जग-आधार तुम्ही भगवान! ।
ज्ञाता ज्ञेय श्रेष्ठ धाम हो व्याप्त तुम्हीसे विश्व महान ॥

३९

वायु, अग्नि, यम, वरुण, प्रजापति, प्रपितामह शशि हो करतार ।
बार बार है तुमको मेरे हे भगवान ! प्रणाम हजार ॥

४०

हे सर्वात्मक! है सम्मुखसे मेरा तुम्हें प्रणाम विशेष ।
पीछेसे है सभी ओरसे नमस्कार तुमको सर्वेश ! ॥
अतुल वीर्य है और आपका अमित पराक्रम है, जगदीश ! ।
तुम यथेष्ट हो सबको, इससे तुम्ही कहाते सबके ईश ॥

४१

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

४२

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

४३

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

४४

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

४१

मित्र मानकर मैंने तुमको वचन कहे जो कुटिल प्रमादि ।
अरे कृष्ण ! ओरे ओ यादव ! और सखे ! प्रियवर इत्यादि ॥
यह सब मैंने कहा भूलसे अथवा कहा प्रेम मन मान ।
क्योंकि तुम्हारी महिमाको मैं नहीं जानता था भगवान ! ॥

४२

और किया हो तिरस्कार जो मैंने कभी हँसीके साथ ।
खेल-कूदमें और शयनमें आसन या भोजनमें नाथ ! ॥
कहीं अकेलेमें अथवा दश पुरुषोंके सम्मुख यदुराज ! ।
हे अमेय गुणवाले ! उसकी क्षमा माँगता हूँ मैं आज ॥

४३

पिता चराचर सकल लोकके प्रभो ! आपही हो भगवान ! ।
पूजनीय हो और आपही गुरुओंके भी प्रगुरु महान ॥
नहीं आपसे बढ़कर कोई नहीं आपके तुल्य स्वभाव ।
हो भी कैसे, इस जगमें है ऐसा अतुलित कहाँ प्रभाव ॥

४४

पिता पुत्रके, सखा सखाके जैसे प्रेमी प्रियके अर्थ ।
क्षमा करे, वैसे मेरे भी सहनेको हैं आप समर्थ ॥

४५

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

४६

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

४७

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

४८

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

४५

पहले कभी न देखा था जो वही आपका रूप निहार।
मुझे हर्ष भी हुआ, और है मन भयसे भी व्यथित अपार॥
जगदाधार आप अब मुझपर हो प्रसन्न हे यादव भूप!।
देव देव! दिखलाओ मुझको पहलेवाला वही स्वरूप॥

४६

शिर किरीट, हो गदा और शुभ चक्र हाथमें हो भगवान!।
मुझे देखनेकी इच्छा है तुमको प्रभु अब प्रथमसमान॥
हे हजार भुज धरनेवाले! उसी रूपको फिरसे धार।
दर्शन दो अब चार भुजोंसे होकर प्रकट विश्वभरतार!॥

४७

श्रीभगवान्‌ने कहा—

अर्जुन तुझपर, प्रसन्न होकर दिखलाया है मैंने रूप।
आत्मयोगके द्वारा यह सब इस जगमें है परम अनूप॥
तेजोमय अनन्त अति अद्भुत विश्वमयी है आद्य तथापि।
मेरे इस स्वरूपको देखा नहीं किसीने पूर्व कदापि॥

४८

मनुज-लोकमें कोई मेरा ऐसा विश्वस्वरूप महान।
वेदयज्ञसे कर्मोंसे या उत्तम करनेसे भी दान॥
स्वाध्याय या उग्रतपोंकी प्रबल प्रेरणासे भी पार्थ!।
नहीं देख सकता है, जैसा तूने देखा इसे यथार्थ॥

४६

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

५०

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

५१

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

५२

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥

५३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

५४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च

४९

घोर स्वरूप देखकर मेरा व्यथित मूढ़ मत हो रणधीर!।
भय तजकर सन्तुष्ट चित्तसे रूप निहार वही फिर वीर!॥

५०

संजयने कहा—

ऐसा कह कर वासुदेवने दिखलाया फिर वही स्वरूप।
डरे हुएको धैर्य बँधाया धरकर सौम्य शरीर अनूप॥

५१

अर्जुनने कहा—

कृष्ण! देखकर सौम्य तुम्हारा नरतनुधारी रूप महान।
मेरा मन अब हुआ ठिकाने सावधान हूँ प्रथमसमान॥

५२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

जिस स्वरूपको तूने देखा वह इस जगमें अति दुर्दर्श।
इसे देखनेको सुरगण भी रखते अपने मनमें तर्ष॥

५३

नहीं वेदसे यज्ञ दानसे तथा नहीं तप भी कर घोर।
जैसा तूने देखा वैसा देख नहीं सकता है और॥

५४

परम अनन्य भक्तिसे ही तो ऐसा भी मैं पार्थ अवश्य।
सत्यतत्त्वसे मिलने लायक ज्ञेय तथा होता हूँ दृश्य॥

५५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

५५

मत्पर हो, मेरे हित करता कर्म, भक्त मम संगविहीन।
जो निर्वैरी सब जीवोंमें होता है वह मुझमें लीन॥

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

ॐ

द्वादशोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

२

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

३

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

४

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

५

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

६

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

ॐ

बारहवाँ अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

ऐसे नित्ययुक्त होकर जो भक्त तुम्हें भजते दिन-रात।
जो अव्यक्त ब्रह्म जपते हैं इनमें श्रेष्ठ कौन है तात?॥

२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

मुझमें मन दे, नित्ययुक्त हो, अति श्रद्धासे मेरा ध्यान।
जो करते हैं, मेरे मतसे, उत्तम योगी उनको जान॥

३

अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचल, जो सर्वव्यापी, है अविनश्य।
उस कूटस्थ, अचिन्त्य ब्रह्मको भजे इन्द्रियोंको कर वश्य॥

४

वश कर इन्द्रिय-वृन्द सर्वदा रखते साम्यबुद्धिका योग।
सर्वभूत-हितमें रत रह, वे प्राप्त मुझे ही होते लोग॥

५

जो अव्यक्त-सक्त हैं उनको महा अधिक होता है क्लेश।
क्योंकि देहधारी इस गतिको पहुँचे पाकर दुःख विशेष॥

६

जो सारे कर्मोंको मुझमें अर्पण कर मत्पर हो, ध्यान।
नित्य अनन्य योगसे धरते मुझको भजते हैं मतिमान॥

७

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

८

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

९

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥

१०

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

११

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

१२

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

१३

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

७

मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंको, पाण्डुकुमार ! ।
मृत्युरूप इस जग-सागरसे झट कर देता हूँ उद्धार ॥

८

ऐसे मुझमें चित्त लगा, मति मुझमें स्थिर करके सस्नेह ।
इसके पीछे मुझमें भारत ! बास करेगा निःसंदेह ॥

९

यदि मुझमें मन भलीभाँतिसे स्थिर करते न बने रणधीर ! ।
तो अभ्यासयोगसे मुझको पानेकी इच्छा रख वीर ! ॥

१०

यदि अभ्यास न भी कर सकता तो मेरे हित कर तू कर्म ।
मेरे लिये कर्म करनेसे तू पावेगा निश्चय शर्म ॥

११

यह भी हो न सके तुझसे तो अर्जुन ! कर तू मेरा योग ।
मेरा आश्रय ले, मन वश रख, कर्म-फलोंका तजकर भोग ॥

१२

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यासयोगसे और ज्ञानसे उत्तम ध्यान ।
श्रेष्ठ ध्यानसे त्याग कर्म-फल, मिले त्यागसे शान्ति महान ॥

१३

द्वेष-रहित सब जीवोंका हो मित्र, क्षमा-युत, ममता त्याग ।
बिना अहंकृत और दयामय, सुख-दुखमें जो सम बड़भाग ॥

१४

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

१५

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

१६

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

१८

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

१९

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

२०

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

१४

जिसके मुझमें सदा बुद्धि मन तुष्ट हुए रहते हैं सक्त।
दृढ़ निश्चयवाला, स्थिर मनका मुझको प्यारा ऐसा भक्त॥

१५

जिससे जनको क्लेश न होता और न जनसे जिसको क्लेश।
हर्ष, विषाद, क्रोध, भयसे जो मुक्त, वही प्रिय मुझे विशेष॥

१६

जो पवित्र, निरपेक्ष, दक्ष हो, उदासीन हो, बिना विकार।
सर्वारम्भ तजे हों जिसने मुझे भक्त प्रिय वह स्वीकार॥

१७

हर्ष द्वेष न होते जिसके नहीं शोक या इच्छावान।
कर्म-शुभाशुभ फल त्यागे हों वही मुझे जन प्रिय तू जान॥

१८

जिसे बराबर शत्रु-मित्र हैं, मान और अपमान समान।
शीत,उष्ण,सुख दुख सम जिसको जो हो संग-विहीन सुजान॥

१९

निन्दा-स्तुतिमें सम, मौनी हो, मिले उसीमें हो सन्तुष्ट।
जो अनिकेत,बुद्धि स्थिर जिसकी मुझे भक्त नर वह प्रिय पुष्ट॥

२०

अमृत धर्म-युत यह जो मैंने कहा, इसे जो हो मन्निष्ठ।
करते हैं आचरण, मुझे वे प्रिय होते हैं भक्त वरिष्ठ॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

ॐ

त्रयोदशोऽध्याय:

१

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

२

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

३

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

४

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

५

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

६

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

ॐ

तेरहवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

इस शरीरको बतलाते हैं कुन्तीनन्दन ! क्षेत्र अनूप ।
इसे जानता है जो, उसको कहते हैं क्षेत्रज्ञ सुरूप ॥

२

हे भारत ! तू जान मुझे ही क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ महान ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान भी है बस मेरा ही वह ज्ञान ॥

३

वह क्षेत्र जो कुछ, जैसा है, जिससे है, जो उसे विकार ।
जिस प्रभावका है, वह सुन तू सुसंक्षेपसे पाण्डुकुमार ! ॥

४

पृथक् पृथक् ऋषियोंने गाया है छन्दोंमें बहुत प्रकार ।
ब्रह्मसूत्रके सकल पदोंसे निश्चित हुआ सहेतु विचार ॥

५

महाभूत-गण, अहंकार फिर बुद्धि तथा अव्यक्त पदार्थ ।
दसों इन्द्रियाँ तथा एक मन, पाँच विषय इन्द्रियके पार्थ ! ॥

६

इच्छा द्वेष तथा सुख दुख भी और चेतना धृति संघात ।
इस समुदाय-तत्त्वको कहते क्षेत्र, विकारसहित, हे तात ! ॥

७

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

८

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

९

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

१०

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

११

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

१२

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

१३

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

७

निरभिमानिता, दम्भहीनता, क्षमा, अहिंसा, आर्जवबुद्धि ।
गुरुजनकी उपासना, स्थिरता, मनका निग्रह, और विशुद्धि ॥

८

विषयोंसे वैराग्य धारना अहंकारका करना शोष ।
जन्म, मरण, वृद्धत्व, रोग दुख इनमें सदा देखना दोष ॥

९

गृहदारासुतमें विरक्ति हो अनासक्त भी रहे तथैव ।
इष्ट अनिष्ट प्राप्तिसे मनकी वृत्ति एक-सी रखे सदैव ॥

१०

और अनन्यभावसे मुझमें रखे सर्वदा निश्चल भक्ति ।
नित रहना एकान्त स्थानमें विषयी जनसे रखे विरक्ति ॥

११

नित्य ज्ञान अध्यात्म समझना फिर विचारना तत्त्वज्ञान ।
इनको कहते ज्ञान, अन्य जो हैं इनसे वे सब अज्ञान ॥

१२

जिसे जानकर मोक्ष प्राप्त हो ऐसी अब कहता हूँ बात ।
परब्रह्म वह आदिरहित न 'सत्' तथा न 'असत्' है तात ! ॥

१३

हाथ, पैर, आँखें, मुख, मस्तक, और कान उसके सब ओर ।
और वही हे भारत ! जगमें व्याप रहा सबमें सब ठौर ॥

१४

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

१५

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

१६

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

१७

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

१८

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

१९

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

२०

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

१४

इन्द्रिय-गणका गुण-प्रकाशक भी न रखे इन्द्रिय-संयोग।
हो असक्त भी सबका पालक निर्गुण भी करता गुणभोग॥

१५

वह सब भूतोंके भीतर है, बाहिर है चर अचर तथैव।
सूक्ष्म हेतुसे अविज्ञेय है, दूर और है निकट सदैव॥

१६

वह अविभक्त हुआ भी सबमें है विभक्त-सा पाण्डुकुमार!।
पैदा करता, पालन करता, ज्ञेय, वही करता संहार॥

१७

सब तेजोंका तेज वही है, तमसे परे वही है ध्येय।
सबके हृदयोंमें वह स्थित है, ज्ञान-गम्य है उत्तम ज्ञेय॥

१८

इस प्रकार संक्षिप्त कहा यह क्षेत्र, ज्ञेय, संयुत विज्ञान।
पाता है मेरे स्वरूपको, मेरा भक्त इसे दृढ जान॥

१९

प्रकृति पुरुष दोनों अनादि हैं ऐसा समझो पाण्डुकुमार!।
सदा प्रकृतिसे पैदा होते ये सारे गुण और विकार॥

२०

यही प्रकृति पैदा करती है हे भारत! सब कारण कार्य।
और पुरुष अनुभव करता है सुख दुखका यों कहते आर्य॥

२१

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

२२

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

२३

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

२४

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

२५

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

२६

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

२७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

२१

पुरुष प्रकृतिमें सुस्थित होकर प्रकृति-गुणोंका करता भोग ।
असत् और सत् योनि-जन्मका कारण है गुणका संयोग ॥

२२

उपद्रष्टा, अनुमोदन करता, भर्ता, भोक्ता तथा महेश ।
इस शरीरमें कहलाता है परमात्मा पर पुरुष-विशेष ॥

२३

इस प्रकारसे पुरुष प्रकृतिको गुणोंसहित जो लेता जान ।
कैसा ही वर्ताव करो वह, पुनर्जन्म उसका मत मान ॥

२४

आत्माको अपनेमें कोई आप ध्यानसे देखे धीर ! ।
और सांख्यसे, तथा योगसे, कर्म-योगसे कोई वीर ! ॥

२५

अन्य अजान लोग औरोंसे सुन सेवन करते दिनरात ।
सुने हुएमें रत, वे भी जन तर जाते हैं भवसे तात ! ॥

२६

तुम ऐसा जानो इस जगमें स्थावर जंगम सकल पदार्थ ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ योगसे पैदा होते हैं हे पार्थ ! ॥

२७

भूतोंके मिटनेपर भी जो मिटे न उनमें रहे समान ।
इसे देखता ऐसे जो नर वही तत्त्व लेता पहचान ॥

२८

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

२९

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

३०

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

३१

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

३२

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

३३

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

३४

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥
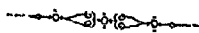
२८

सदाकाल परमेश्वरको सम रूप जानता सबमें व्याप्त।
घात न अपनी आप करे जो वही ब्रह्मको होता प्राप्त॥

२९

माया करती सब कर्मोंको ब्रह्म नहीं करता कुछ कार्य।
इस प्रकार जो पुरुष देखता वही देखता सब कुछ आर्य!॥

३०

सब भूतोंका पृथकभाव जब दिखने लगे एकमें पार्थ!।
फिर विस्तार उसीसे उसका तब हो ब्रह्म-प्राप्ति यथार्थ॥

३१

यह अनादि निर्गुण होनेके कारण परमात्मा अविकार।
देहस्थित भी कर्म न करता नहीं लिप्त हो पाण्डुकुमार!॥

३२

गगन सूक्ष्म होनेसे होता सर्वव्यापी यथा न लिप्त।
यह आत्मा तनुमें सर्वत्र स्थित भी होता तथा न लिप्त॥

३३

इन सारे लोकोंको करता एक प्रकाशित भानु यथैव।
हे अर्जुन! परमात्मा सारे लोक प्रकाशित करे सदैव॥

३४

ज्ञानदृष्टिसे ऐसे जाने देह ब्रह्मको जो पर्याप्त।
फिर भूतोंकी प्रकृति-मोक्षको समझे, उसे ब्रह्म हो प्राप्त॥

तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १३॥

ॐ

चतुर्दशोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

२

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

३

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

४

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

५

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

६

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

ॐ

चौदहवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

फिर बतलाता हूँ मैं तुझको सब ज्ञानोंसे उत्तम ज्ञान।
परम सिद्धि पा गये लोकमें सारे मुनि-जन इसको जान॥

२

इसका आश्रय लेकर मुझमें एक-रूपता पाये लोग।
सृष्टिकालमें जन्म न पाते तथा प्रलयमें दुखके भोग॥

३

प्रकृति योनि है मेरी इसमें करता हूँ मैं गर्भाधान।
फिर होता है इससे सारे भूतोंका संभव, यह जान॥

४

सकल योनियोंमें होती हैं विविध मूर्तियाँ, हे कौन्तेय!।
उन सबकी यह प्रकृति योनि है, मैं हूँ पिता बीजप्रद-ध्येय॥

५

पैदा हुए प्रकृतिसे ये सब सत, रज, तम, गुण पाण्डुकुमार!।
ये देहीको इस शरीरमें बाँधे जो हैं बिना विकार॥

६

निर्मल है इसलिये प्रकाशक निरुपद्रवी सत्त्वगुण आप।
ज्ञान और सुखसे देहीको बद्ध करे सुन हे निष्पाप!॥

७

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

८

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

९

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

१०

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

११

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

१२

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

१३

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

७

रागात्मक रजगुण है इससे हो तृष्णा, आसक्ति महान ।
बाँध डालता कर्म-संगसे यह प्राणीको पार्थ सुजान ! ॥

८

तम अज्ञानज है जीवोंको डाले मोहबीच भरपूर ।
फिर प्रमाद, आलस्य, नींदसे प्राणीको बाँधे, हे शूर ! ॥

९

सुखमें सत्त्व, कर्ममें रजगुण करता है आसक्ति महान ।
करे प्रवृत्ति प्रमादवीच तम, प्राणीका ढक कर सब ज्ञान ॥

१०

रज तम हटे सत्त्वगुण होता, सत तम हटे रजोगुण जान ।
सत्त्व और रजके हटनेसे तम पैदा होता, यह मान ॥

११

इस शरीरके सब द्वारोंमें जब हो भव्य प्रकाश विशाल ।
तब ऐसा जानो कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ रहता उस काल ॥

१२

कर्मारम्भ, प्रवृत्ति कर्ममें, स्पृहा, अशान्ति, प्रलोभ महान ।
ये पैदा होते जब अर्जुन ! तब रज बढ़ा हुआ तू जान ॥

१३

अप्रकाश, कर्मोंमें आलस और प्रमाद, विमोह तथैव ।
ये होते उत्पन्न पाण्डुसुत ! जब, तम बढ़ता तभी सदैव ॥

१४

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥

१५

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

१६

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

१७

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

१८

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

१९

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

२०

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

१४

सत्त्व बुद्धिके समय मनुज जो करता निज शरीरका त्याग।
वह उत्तम तत्त्वज्ञ, सुरोंके लोक-बीच जाता बड़भाग॥

१५

देह रजोगुणमें जो छोड़े वह होता है कर्मासक्त।
और तमोगुणमें जो मरता वह होता है मूढ़ अभक्त॥

१६

पुण्यकर्मका फल मिलता है जनको निर्मल सत्त्व प्रधान।
दुःख रजोगुणका फल होता और तमोगुण-फल अज्ञान॥

१७

ज्ञान सत्त्वमें पैदा होता, लोभ रजोगुणसे हो एक।
और तमोगुणसे होते हैं मोह, प्रमाद तथा अविवेक॥

१८

सात्त्विक जन स्वर्गादि लोकको पाते राजस मध्यम लोक।
और तमोगुणमें स्थित जनको सदा अधोगति मिले सशोक॥

१९

द्रष्टा जन जो यही देखता, कर्ता नहीं गुणोंसे और।
तथा गुणोंसे परको जाने वह पाता है मेरी ठौर॥

२०

जो जन कारणरूप जीत ले इस शरीरके ये गुण तीन।
जन्म, मरण, वृद्धत्व दुखोंसे हो विमुक्त, वह मुझमें लीन॥

२१

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥

२२

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

२३

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

२४

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

२५

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

२६

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

२१

अर्जुनने कहा—

किन चिन्होंसे गुणातीत हो जन, उसका कैसा आचार ?।
यह बतलाओ, नर जाता है परे गुणोंसे कौन प्रकार ?॥

२२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

पार्थ ! प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह ये हों तो, करे न इनसे द्वेष।
और न हो तो इनकी मनमें इच्छा तनिक न करे विशेष॥

२३

कभी गुणोंसे चलित न हो जो उदासीन-सा हो आसीन।
गुण ही गुणमें वर्त्त रहे, यों जान, रहे स्थिर डिगै कभी न॥

२४

सुखदुखमें सम, स्वस्थ, जानता तुल्य मृत्तिका, पत्थर, स्वर्ण।
प्रिय-अप्रियमें तुल्य, धीर, जो निन्दा-स्तुतिमें सम दे कर्ण॥

२५

जिसे मान अपमान एक हों, सम हो शत्रु-मित्रका पक्ष।
काम्य-कर्म-आरम्भ तजे जो गुणातीत वह है नर दक्ष॥

२६

एकनिष्ठ जो भक्ति-योगसे मुझको भजता है दिनरात।
गुणातीत होकर वह मानव मिलता ब्रह्मरूपमें तात !॥

२७

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

२७

अव्यय अमृतस्वरूप ब्रह्मकी भारत ! मुझे प्रतिष्ठा जान ।
शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुखका भी मैं ही हूँ स्थान ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

ॐ

पञ्चदशोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

२

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

३

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

४

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

५

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

६

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

ॐ

पन्द्रहवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

जड़ ऊपर शाखाएँ नीचे ऐसा अव्यय पीपल एक।
वेद पत्र हैं जिसके, ऐसा जाने उसको वेद-विवेक॥

२

फैली हुई है अधऊर्ध्व शाखा पली गुणोंसे विषयाङ्कुरा जो।
कर्मानुबन्धी उसकी जड़ें भी नृलोकमें आ, गहरी गड़ी हैं॥

३

न रूप वैसा इसका यहाँ पै मिले न आधार न अन्त आदि।
प्रगाढ मूलों-युत जो इसे, ले असंगरूपी दृढ शस्त्र काटे॥

४

तुरन्त पीछे वह स्थान ढूँढे जहाँ गये जीव, न लौटते हैं।
प्रवृत्ति होती जिससे पुरानी उसी महापूरुषको भजूँ मैं॥

५

मानी न मोही न तथा न संगी अध्यात्ममें नित्य तथा अकामी।
विमुक्त होके सुख-दुःखसे भी पाते वही अव्यय स्थान ज्ञानी॥

६

जिसको नहीं प्रकाशित करता दिनकर पावक कला-निधान।
जहाँ गये पीछे न लौटते मेरा वही परम है स्थान॥

७

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

८

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

९

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

१०

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

११

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

१२

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

१३

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

७

मेरा ही है अंश सनातन जीव, जीव-लोकोंके बीच।
प्रकृतिस्थित मन सहित पंच इन्द्रियको वह लेता है खींच॥

८

जिस शरीरको लेवे अथवा छोड़े यह ईश्वर स्वच्छन्द।
संग इन्द्रियोंको ले जाता ज्यों पुष्पोंमें मारुत, गन्ध॥

९

कान, और आँखें, त्वक्, जिह्वा, नासा मनसंयुक्त तथैव।
इनके आश्रयसे यह करता जीव विषय उपभोग सदैव॥

१०

एक देहसे देहान्तरको जाते, रहते, करते, भोग।
गुणयुत इसे विमूढ न देखें, देखें ज्ञान-दृष्टिके लोग॥

११

युक्त हुए योगीजन इसको देखे स्थित आत्माके बीच।
नहीं देखते अज्ञानीजन यत्नयुक्त भी मतिके नीच॥

१२

यह आदित्य-तेज जो सारा जगत प्रकाशित करे महान।
और तेज जो चन्द्र-अग्निमें वह भी तू मेरा ही जान॥

१३

धारण करता मैं भूतोंको क्षितिमें हो प्रविष्ट, कर जोष।
फिर बनकर रस सोम, करूँ मैं सकल औषधोंका परिपोष॥

१४

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

१५

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

१६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

१७

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

१८

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

१९

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

२०

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

१४

वैश्वानर होकर जीवोंके रहूँ देहमें ले आधार।
प्राण अपान संग होकर मैं अन्न पचाऊँ चार प्रकार॥

१५

सबमें मैं निविष्ट, मुझसे हो स्मरण, अपोह और विज्ञान।
वेदवेद्य, वेदान्त-रचयिता, और वेदविद मुझको जान॥

१६

क्षर अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष लोकमें है मतिमान!।
भूतवर्गको क्षर कहते हैं अक्षर है कूटस्थ महान॥

१७

उत्तम पुरुष अन्य है उसको परमात्मा कहते हैं पार्थ!।
वही ईश अव्यय, घुस जगमें पालन करता सकल पदार्थ॥

१८

मैं हूँ क्षरसे परे और हूँ अक्षरसे भी उत्तम धाम।
इससे लोक तथा वेदोंमें पुरुषोत्तम है मेरा नाम॥

१९

ऐसे मोहमुक्त हो मुझको पुरुषोत्तम जो लेता मान।
सब प्रकारसे मुझको भजता वह नर हो सर्वज्ञ महान॥

२०

बतलाया यह शास्त्र तुझे है महागुह्य भी और सुसत्य।
इसे जान धीमान और भी हो जावेंगे अति कृतकृत्य॥

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥

ॐ

षोडशोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

२

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

३

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

४

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

५

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

६

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥

ॐ

सोलहवाँ अध्याय

१

श्रीभगवान्‌ने कहा—

निर्भयता, शुचि वृत्ति सात्त्विकी, और सुसंस्थित रहना ज्ञान।
यज्ञ तथा इन्द्रिय-संयम हों, स्वाध्याय, तप, आर्जव, दान॥

२

सत्य, अहिंसा, क्रोध त्यागना, अपैशुन्य, हो भाव सुशान्त।
अतिदयालु, निर्लोलुप, मृदु हो, अचपल, लज्जावान, नितान्त।

३

तेज, क्षमा, अद्रोह, शौच, धृति, निरभिमानिता हो पर्याप्त।
दैवी प्रकृति-जन्य पुरुषोंको भारत! ये गुण होते प्राप्त॥

४

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, फिर कर्कशता अति हो अज्ञान।
जो आसुर सम्पत्‌में होते, ये अवगुण उनमें तू जान॥

५

दैवी सम्पत् मोक्षदायिनी और आसुरी बन्धन-हेतु।
हुआ दैव-सम्पत्‌में है तू मत कर शोक भरत-कुल-केतु!॥

६

दो प्रकारकी जीव-सृष्टि है दैव एक है आसुर एक।
दैव कही विस्तारसहित अब आसुरको तू सुन सविवेक॥

७

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

८

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

९

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

१०

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

११

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

१२

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

१३

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

७

क्या प्रवृत्ति है? क्या निवृत्ति है? यह न जानते आसुर लोग।
शौच और आचार न उनमें नहीं तथैव सत्यका योग॥

८

वे कहते यह जगत् असत् है और अनीश, बिना आधार।
काम-हेतुसे पैदा होता अपरस्पर ही यह संसार॥

९

नष्टात्मा वे अल्पबुद्धि नर इस मतको करते स्वीकार।
पैदा होते क्रूर-कर्मसे क्षय करनेको सब संसार॥

१०

कर आश्रय दुष्पूर कामका, दम्भ, मान, मदसे हो भ्रान्त।
कुत्सित कर्म मोहसे करते मनमाने करके सिद्धान्त॥

११

अगणित चिन्ताओंमें रहते मरणकालतक ऐसे लोग।
दृढ निश्चयसे यही जानते है पुरुषार्थ काम उपभोग॥

१२

आशापाशोंसे वे जकडे काम-क्रोधमें होकर लीन।
सुखके हित अनीतिसे करते वे धनकी इच्छा मतिहीन॥

१३

आज मिला यह मुझको, कल वह मेरा पूरा होगा काम।
यह धन मेरा है फिर वह भी मेरा ही होगा धन धाम॥

१४

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

१५

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

१६

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

१७

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

१८

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

१९

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

२०

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

१४

मैंने ही इस रिपुको मारा कल लूँगा औरोंके प्रान।
मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध, सुखी, बलवान॥

१५

धनवाला कुलीन मैं ही हूँ मेरे सदृश कौन स्वछन्द।
यज्ञ, दान, सुख-भोग करूँगा यों अज्ञान मोहसे अन्ध॥

१६

विविध कल्पनाओंमें भूले फँसे मोहमें ऐसे नीच।
काम-भोग आसक्त हुए वे पड़ते अशुचि नरकके बीच॥

१७

आत्मप्रशंसी ऐंठ भरे धन और मान-मद-संयुत अज्ञ।
करते वे विधि-हीन नामके लिये दम्भसे पूरित यज्ञ॥

१८

अहंकार बल, दर्प, कामयुत, करके आश्रित क्रोधविशेष।
निज-परमें स्थित मुझसे करते वे नर निन्दा-संयुत द्वेष॥

१९

अशुभ क्रूर कर्मोंके कर्त्ता मेरे द्वेषी अधम तथैव।
इन्हें आसुरी योनि-बीच ही पार्थ! डालता रहूँ सदैव॥

२०

इस प्रकार वे जन्म-जन्ममें आसुरयोनि प्राप्त हों लोग।
मुझे न पाकर, वे पाते हैं महा अधमगतिका संयोग॥

२१

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

२२

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

२३

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

२४

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

२१

काम और है क्रोध, लोभ, ये तीन प्रकार नरकके द्वार ।
आत्मनाश-कारक है, इससे इनको तजना सर्वप्रकार ॥

२२

तमोद्वार इन तीनोंसे जो पुरुष मुक्त हो जाता पार्थ ! ।
अपना श्रेय साधते उसको हो उत्तम गति प्राप्त यथार्थ ॥

२३

छोड़ शास्त्रकी विधिको जो नर करता है मनमाने काम ।
उसे न मिलती सिद्धि और सुख, तथा न मिलता उत्तम धाम ॥

२४

इससे कार्य-अकार्य-बीच तूँ मान प्रमाण शास्त्र-अनुसार ।
शास्त्र-विधान जानकर जगमें सकल कर्म कर, पाण्डु-कुमार ॥

सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

ॐ

सप्तदशोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

२

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

३

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

४

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

५

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

६

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

ॐ

सत्रहवाँ अध्याय

१

अर्जुन बोला—

छोड़ शास्त्रकी विधि, श्रद्धायुत यजन करें जो नर मतिमान।
उनकी निष्ठा किस प्रकार है सत है या रज, तम, भगवान!॥

२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

श्रद्धा तीन प्रकार नरोंके होती है, स्वभावसे जन्य।
उनको सुन, है एक सात्त्विकी, एक राजसी, तामस अन्य॥

३

श्रद्धामय है पुरुष पार्थ! यह श्रद्धा होती सत्त्व समान।
जिस जनके जैसी श्रद्धा हो उसको तू वैसा ही जान॥

४

सात्त्विक जन देवोंको भजते यक्षादिकको राजस-भक्त।
प्रेत और भूतोंका सेवन करते हैं. नर तम-आसक्त॥

५

दम्भ अहंकृति संयुत जो नर काम-रागका पाकर जोर।
शास्त्रविरुद्ध किया करते हैं कुन्तीनन्दन! तप अति घोर॥

६

देहस्थित भूतोंको, मुझको जो हूँ तनुके अन्दर गूढ।
कष्ट दिया करते हैं वे बस निश्चय हैं नर आसुर मूढ॥

७

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥

८

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

९

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

१०

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

११

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

१२

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

१३

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

७

सबके प्रिय आहार तथा तप और दान भी तीन प्रकार।
अर्जुन! सुन कहता हूँ उनके भेदोंको करके विस्तार॥

८

आयु, सत्त्व, बल, सुख प्रीतिके वर्धक होकर दें आरोग्य।
चिकने, सरस, हृद्य, चिरस्थायी हैं भोजन सात्त्विकजन भोग्य॥

९

खट्टे, खारे, उष्ण, चरपरे, तीखे, रूखे, दाहक अन्न।
दुःख-शोक-रोगप्रद, प्यारे मानें नर रजगुण-सम्पन्न॥

१०

ठंडा, नीरस, दुर्गन्धित, फिर बासी, जूँठा, अति अपवित्र।
और अमेध्य सदा प्रिय भोजन है तामस-जनको हे मित्र!॥

११

निज कर्तव्य जान फल-आशा तज, शास्त्रोंकी विधि-अनुसार।
शान्त चित्तसे किया जाय जो, उसको सात्त्विक यज्ञ विचार॥

१२

स्वर्गादिक फलकी इच्छासे अथवा दम्भ-हेतु जो यज्ञ।
किया जाय, उसको कहते हैं राजस, हे भारत! तत्वज्ञ॥

१३

विधिसे हीन अन्नसे विरहित बिना दक्षिणा मन्त्र-विहीन।
श्रद्धासे जो शून्य यज्ञ हो वह है तामसयज्ञ मलीन॥

१४

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

१५

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

१६

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

१७

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

१८

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥

१९

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२०

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

१४

देव, विप्र, गुरु, प्राज्ञ पूजना तथा सरलता शौचाचार।
और अहिंसा, ब्रह्मचर्य ये कायिक तप हैं पाण्डुकुमार! ॥

१५

वचन सत्य, हित, प्रियकर हो जो मनको नहीं करें उद्विग्न।
और पाठ वेदोंका अर्जुन! ये हैं वाचिक तप निर्विघ्न ॥

१६

मन प्रसन्नता मौन सौम्यता आत्म-विनिग्रह भाव-विशुद्धि।
हे भारत! इनको मानस तप वतलाते हैं पुरुष सुबुद्धि ॥

१७

यदि श्रद्धासे ये तीनों तप, मन स्थिर कर फल-आशा त्याग।
किये जायँ तो कहलाते हैं सबही सात्त्विक हे बड़भाग! ॥

१८

किये जायँ पाखण्डपूर्ण जो निज सत्कार-मान-पूजार्थ।
अस्थिर और सुचंचल ने तप राजस कहलाते हैं पार्थ! ॥

१९

अपनेको पीडा देकर जो मूढ दुराग्रह मनमें ठान।
परविनाश-हित किया जाय जो अर्जुन! वह तामस तप जान ॥

२०

यह देना है यही समझकर अनुपकार नरको पहचान।
देश तथा सत्काल, पात्रमें दिया जाय, वह सात्त्विक दान ॥

२१

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

२२

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

२३

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

२४

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

२५

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

२६

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

२७

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

२१

जो हो प्रत्युपकार हेतुसे, या हो लेकर फल-उद्देश ।
बस वह राजस दान कहा है दिया जाय जो करके क्लेश ॥

२२

असमय और अयोग्य देशमें या अपात्रमें कर अपमान ।
विना किये सत्कार दान जो दिया जाय, वह तामस जान ॥

२३

ओम्, तत्, सत्, ये परब्रह्मके तीन नाम कहते हैं तज्ज्ञ ।
इनके द्वारा ही ये सारे विरचे गये वेद द्विज यज्ञ ॥

२४

इस कारण 'ओम्' इसको पढकर यज्ञ दान तप आदिक काम ।
विधिपूर्वक करते रहते हैं सकल ब्रह्मवादी अविराम ॥

२५

'तत्' इसको पढकर फलको तज यज्ञ दान तप आदिक कार्य ।
नानाविध करते रहते हैं पुरुष मोक्ष-अभिलाषी आर्य ॥

२६

साधुभाव सद्भाव अर्थमें होता 'सत्' यह शब्द प्रयुक्त ।
तथा और भी शुभ कर्मोंमें यही शब्द होता उपयुक्त ॥

२७

यज्ञ, तपस्या, और दानमें स्थिति हो उसे कहें सत् आर्य ।
और उन्हें भी सत् ही कहते जो तदर्थ होते हैं कार्य ॥

२८

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

२८

श्रद्धा बिना दिया, होमा, जो किया, तपस्या आदिक कर्म।
उसे असत् कहते हैं उससे यहाँ तथा न वहाँ हो शर्म ॥

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

ॐ

अष्टादशोऽध्यायः

१

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

२

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

३

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

४

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

५

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

६

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

ॐ

अठारहवाँ अध्याय

१

अर्जुनने कहा—

महाबाहु ! हे हृषीकेश ! मैं किया चाहता हूँ यह ज्ञान ।
त्याग और संन्यास तत्त्वको पृथक् पृथक् कहिये भगवान ॥

२

श्रीभगवान्‌ने कहा—

सकल काम्य-कर्मोंका तजना ही सन्यास कहाता पार्थ ! ।
और कहाता सब कर्मोंका फल-त्याग ही त्याग यथार्थ ॥

३

दोष-युक्त सब कर्म त्यागने योग्य बताते पंडित एक ।
त्याज्य नहीं है कभी दान, तप, यज्ञ-कर्म, यों कहें अनेक ॥

४

अब तू त्याग विषयमें मेरा निर्णय सुन हे पाण्डुकुमार ! ।
पुरुषश्रेष्ठ ! यह विद्वानोंने त्याग बताया तीन प्रकार ॥

५

करनेके ही योग्य दान, तप, यज्ञ-कर्म तो त्याज्य न मित्र ! ।
यज्ञ, दान, तप कर देते हैं विद्वानोंके हृदय पवित्र ॥

६

ये भी कर्म संग, फल-आशा तजकर करने हैं कर्तव्य ।
ऐसा निश्चित मत मेरा है अर्जुन ! सकल मतोंमें भव्य ॥

७

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

८

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

९

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

१०

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

११

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

१२

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

१३

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

७

कभी किसीको नियत कर्मका करना नहीं चाहिये त्याग।
त्याग मोहसे हो उसका, तो वही त्याग तामस, बड़भाग! ॥

८

देह-क्लेशके भयसे कोई दुःख मानकर तज दे कार्य।
तो वह त्याग राजसी है, फल उसका उसे न मिलता आर्य! ॥

९

निश्चित निज कर्तव्य मानकर नियमित अपने कर्म सुजान।
करे, संग, फल-आशा तजकर, उसी त्यागको सात्त्विक मान ॥

१०

अहितकर्ममें द्वेष न करता स्वहितकर्ममें रहे न युक्त।
वह त्यागी है, सत्त्वनिष्ठ है, मेधावी है, संशयमुक्त ॥

११

तनुधारीसे पार्थ! कर्मका त्याग नहीं सम्भव निःशेष।
सच्चा त्यागी उसे जान तू जिसने छोड़े फल-उद्देश ॥

१२

इष्ट, अनिष्ट, मिश्र फल होते सब कर्मोंके तीन प्रकार।
अत्यागी पाते मरनेपर, त्यागी कभी न पाण्डुकुमार! ॥

१३

जगमें कर्म सिद्ध होनेके लिये पाँच ही कारण, पार्थ।
कहे गये हैं सांख्य-शास्त्रमें, वे अब मुझसे जान यथार्थ ॥

१४

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

१५

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

१६

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

१७

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

१८

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥

१९

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

२०

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

१४

अधिष्ठान है प्रथम, दूसरा कर्ता, करण तृतीय तथैव।
चौथे नाना विधि चेष्टायें और पाँचवाँ कारण दैव॥

१५

तन, मन और वचनके द्वारा भले-बुरे जो कुछ भी कार्य।
करने लगता है नर, उसके ये पाँचों कारण हैं आर्य!॥

१६

ऐसा होनेपर भी जो नर अपनेको कर्ता ले मान।
अकृत-बुद्धि होनेके कारण वह मानव है कुमति अजान॥

१७

जिसे अहंकृति कभी न हो, फिर होवे मति आलेपविहीन।
जीव मार भी, वह न मारता, कर्म बाँधते उसे कभी न॥

१८

ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, ऐसी है कर्म-प्रेरणा तीन प्रकार।
करण, कर्म, कर्ता ऐसे ये तीन कर्मसंग्रहके द्वार॥

१९

ज्ञान, कर्म, कर्ताओंके भी तीन भेद हैं गुण-अनुसार।
कहे सांख्यमें, उनको अब तू ज्यों-के-त्यों सुन पाण्डुकुमार!॥

२०

जिससे भिन्न-भिन्न भूतोंमें अविभाजित, अविकारी एक।
तत्त्व दिखाई पड़े पुरुषको, होता 'सात्त्विक' वही विवेक॥

२१

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

२२

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२३

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

२४

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

२५

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

२६

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

२७

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

२१

न्यारे-न्यारे सब भूतोंमें पृथग्भावकी हो पहिचान।
जिस विवेकद्वारा हे अर्जुन! कहते उसको 'राजस' ज्ञान॥

२२

एक कार्यमें सब कुछ गिन कर लगा हुआ हो कारणहीन।
तुच्छ और तत्वार्थ-रहित जो हो, वह 'तामस' ज्ञान मलीन॥

२३

फल-आशा त्यागीसे, नियमित किया जाय जो कुछ भी कार्य।
राग, द्वेष, आसक्ति-हीन, वह कहलाता 'सात्त्विक' हे आर्य॥

२४

फल-आशा रख अति ही श्रमसे अहंकारसंयुत जो काम।
किया जाय पुरुषोंसे उसका कुन्तीसुत! है 'राजस' नाम॥

२५

फल शुभ-अशुभ और क्षय, हिंसा, निज पौरुषका देख न मर्म।
किया जाय आरम्भ मोहसे, उसको कहते 'तामस' कर्म॥

२६

हो न जिसे आसक्ति-अहंकृति, जो उत्साह-धैर्यकी खान।
सिद्धि-असिद्धि बीच अविकारी वह कर्ता है 'सत्त्व' प्रधान॥

२७

विषयासक्त, कर्म-फल-इच्छुक, लोभी, हिंसक, अति अपवित्र।
हर्ष-शोक जिसको होते हैं वह कर्ता राजस है, मित्र!॥

२८

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥

२९

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥

३०

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

३१

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

३२

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

३३

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

३४

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥

२८

चंचलबुद्धि, असभ्य, घमंडी, शठ, औरोंको जो दे कष्ट।
अलस, विषादी, और सुस्त जो तामस कर्ता है वह स्पष्ट॥

२९

बुद्धि और धृतिके भी अर्जुन! तीन भेद हैं गुण-अनुसार।
अलग-अलग कर समझाता हूँ उनको सुन तू सर्वप्रकार॥

३०

कार्य, अकार्य तथैव भयाभय उनमें और निवृत्ति प्रवृत्ति।
तथा जानती बन्ध-मोक्षको उस मतिकी है 'सात्त्विक' वृत्ति॥

३१

जिसके द्वारा पुरुष कभी निज धर्म, अधर्म, सुकार्य, अकार्य।
नहीं जान सकता विधिपूर्वक वही बुद्धि है 'राजस' आर्य!॥

३२

बुद्धि 'तामसी' है वह जिससे हो अधर्ममें धर्म-ज्ञान।
तमसे व्याप्त हुई जो लेती सब अर्थोंको उलटे मान॥

३३

अचल हुई जिस धृतिसे ये मन, प्राण, इन्द्रियोंके व्यापार।
करे योगके द्वारा मानव 'सात्त्विक' वह धृति पाण्डुकुमार!॥

३४

जिसके द्वारा धारण करता है नर धर्म, अर्थ, फिर काम।
हो प्रसंगसे फल-अभिलाषी उस धृतिका है 'राजस' नाम॥

३५

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

३६

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥

३७

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

३८

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

३९

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

४०

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

४१

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

३५

वह 'तामस' धृति कहलाती है जिसके द्वारा स्वप्न, विषाद ।
नहीं छोड़ सकता है दुर्मति मान, सुभय, विशोक, उन्माद ॥

३६

भरतश्रेष्ठ ! अब सुन मुझसे तू तीन भाँति सुखके भी भेद ।
जिसके परिचयसे रुचि होकर मिट जाते हैं सारे खेद ॥

३७

जान पड़े विषतुल्य आदिमें और अन्तमें सुधासमान ।
निज मतिकी प्रसन्नतासे हो प्राप्त, वही सुख 'सात्त्विक' जान ॥

३८

'राजस' सुख वह होता है जो पा विषयेन्द्रियका संयोग ।
पहिले दीखे सुधा-सरीखा पीछे दे विष-सा फलभोग ॥

३९

जो आरम्भ तथा परिणतिमें करे मोहमें चकनाचूर ।
निद्रालस्य-प्रमाद-जन्य जो सुख है, वह 'तामस' अति क्रूर ॥

४०

क्षिति, आकाश तथा देवोंके लोक बीच भी वह कोई न ।
जिसमें प्रकृति-जन्य ये हों ही नहीं सत्त्व, रज, तम गुण तीन ॥

४१

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन सबहीके, हे पाण्डुकुमार ! ।
न्यारे-न्यारे कर्म कहे हैं प्रकृति-सिद्ध गुणके अनुसार ॥

४२

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

४३

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

४४

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

४५

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

४६

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

४७

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

४८

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

४२

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमिता, ऋजुता और ज्ञान, विज्ञान।
कर्मोंमें आस्तिक्य-बुद्धि, ये ब्रह्मकर्म स्वाभाविक जान॥

४३

शौर्य, तेज, धृति और दक्षता, रणमें डटना, देना दान।
तथा प्रजापर हुकुम चलाना ये हैं क्षत्रियकर्म, सुजान!॥

४४

वैश्यकर्म स्वाभाविक हैं कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य सधर्म।
इन सबकी सेवा करना ही प्रकृति-सिद्ध शूद्रोंका कर्म॥

४५

लगे हुए निज-निज कर्मोंमें पाते सिद्धि पुरुष प्रत्येक।
सिद्धि स्वकर्मनिरतको जैसे मिलती, सुन तू वही विवेक॥

४६

प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति जिससे और सकल जग जिससे व्याप्त।
निज कर्मोंसे उसे पूजकर पुरुष सिद्धिको होता प्राप्त॥

४७

हो परधर्म रुचिर गुणवाला पर स्वधर्म निर्गुण भी श्रेय।
प्रकृति नियत कर्मोंको करता पुरुष न होता पापी, हेय॥

४८

सहज कर्म यदि दोष-पूर्ण हो तो भी उसे न तजना आर्य!।
क्योंकि अग्नि ज्यों धूमावृत है त्यों दोषावृत सारे कार्य॥

४९

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

५०

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

५१

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

५२

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

५३

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

५४

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

५५

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

४९

मन वशकर, इच्छा विरहित हो, अनासक्त मति रख सर्वत्र ।
पाता है नैष्कर्म्य-सिद्धिको नर संन्यास-योगसे अत्र ॥

५०

सिद्धि प्राप्त होकर फिर जैसे पुरुष ब्रह्ममें होता लिप्त ।
वैसे परम ज्ञानकी निष्ठा अब तू मुझसे सुन संक्षिप्त ॥

५१

आत्माका संयम कर धृतिसे होकर शुद्ध बुद्धिसे युक्त ।
शब्दादिक विषयोंको तजकर राग-द्वेषसे होकर मुक्त ॥

५२

मित भोजन, एकान्त स्थिति कर, तन, मन, वाणी कर आधीन ।
रख वैराग्य योगका आश्रय, होकर ध्यानयोगमें लीन ॥

५३

अहंकार, बल, गर्व, परिग्रह, काम, क्रोधको गिनकर व्यर्थ ।
ममता-हीन शान्त नर होता ब्रह्मप्राप्तिके लिये समर्थ ॥

५४

ब्रह्मभूत वह प्रसन्न मन हो गिनता प्राणीमात्र, समान ।
नहीं शोक, अभिलाषा करता पाता मेरी भक्ति सुजान ॥

५५

कितना और कौन हूँ मैं, यह जान भक्तिसे मेरा तत्त्व ।
तदनन्तर मेरे अन्दर ही होता है प्रविष्ट वह सत्त्व ॥

५६

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

५७

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

५८

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

५९

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

६०

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

६१

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

६२

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

५६

सकल कर्म करता भी जो नर लेता मेरा आश्रय धार।
मेरे परम अनुग्रहसे वह पाता शाश्वत पद अविकार॥

५७

मनसे सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके पाण्डुकुमार!।
बुद्धियोगका आश्रय करके मुझमें सन्तत मनको धार॥

५८

फिर तू मेरे ही प्रसादसे पार करेगा सारे कष्ट।
यदि इसको तू अहंकारसे नहीं सुनेगा, होगा नष्ट॥

५९

अहंकारके वश करता है 'नहीं लडूँगा' यह उद्योग।
सब मिथ्या है, अर्जुन! तेरा प्रकृति करा देगी विनियोग॥

६०

तू अपने प्राकृतिक कर्मसे बद्ध हुआ, हो मोह-अधीन।
जो करनेको नहीं चाहता वही करेगा हो तदधीन॥

६१

अर्जुन! ईश्वर सब भूतोंके रहकर हृदयदेशमें गूढ़।
घुमा रहा है निज मायासे मानों करके यन्त्रारूढ़॥

६२

हे भारत! तू सर्वभावसे शरण उसे हो प्राप्त निदान।
उसके ही प्रसादसे लेगा शान्ति और वह शाश्वत स्थान॥

६३

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

६४

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

६५

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

६६

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

६७

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

६८

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

६९

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

६३

ज्ञान गुह्यसे अधिक गुह्य यह मैंने तुझे बताया आर्य! ।
दृढ़ विचार कर इसको, जैसी इच्छा हो वैसा कर कार्य ॥

६४

सर्वगुह्यतम फिर यह मेरी अर्जुन! सुन तू उत्तम बात ।
प्यारा मेरा इष्ट भक्त है इससे तुझे कहूँ हित, तात! ॥

६५

मुझमें मन दे, मुझको भज, कर मेरा यजन तथैव प्रणाम ।
मुझको होगा प्राप्त, सत्य मैं कहूँ मुझे तू है अभिराम ॥

६६

सब धर्मोंको तजकर आ जा शरण एक मेरी बेरोक ।
मैं तुझको सारे पापोंसे मुक्त करूँगा, मत कर शोक ॥

६७

यह बतलाना उसे नहीं तू जो हो तपसे हीन, अभक्त ।
सुनना नहीं चाहता हो, जो मेरी निन्दामें अनुरक्त ॥

६८

जो इस परम गुह्यका मेरे भक्तोंको देगा उपदेश ।
निश्चय ही वह मुझे मिलेगा पाकर मेरी भक्ति विशेष ॥

६९

उससे बढ़कर मुझको कोई मनुजों बीच नहीं नर श्रेष्ठ ।
और नहीं होगा इस जगमें उससे अन्य मुझे प्रिय श्रेष्ठ ॥

७०

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

७१

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

७२

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥

७३

अर्जुन उवाच–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

७४

संजय उवाच–

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥

७५

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

७०

जो नर धर्मसमेत हमारा यह संवाद पढ़ेगा पार्थ ! ।
मैं मानूँगा ज्ञानयज्ञसे उसने पूजा मुझे यथार्थ ॥

७१

श्रद्धासहित न दोष देखकर इसे सुनेगा जो पर्याप्त ।
मुक्त हुआ वह सुकृति-जनोंके शुभलोकोंको होगा प्राप्त ॥

७२

क्या तुमने एकाग्र चित्तसे यह सारा सुन लिया यथार्थ ? ।
मोह और अज्ञान तुम्हारा नष्ट हुआ कि नहीं हे पार्थ ? ॥

७३

अर्जुनने कहा—

नाथ ! आपके ही प्रसादसे गया मोह, स्मृति पाई आज ।
स्थित हूँ, निःसन्देह करूँगा कहा तुम्हारा हे यदुराज ! ॥

७४

संजयने कहा—

ऐसा कृष्ण और अर्जुनका यह संवाद, सहित उत्कर्ष ।
मैंने श्रवण किया अति अद्भुत जो करता है रोम-प्रहर्ष ॥

७५

व्यास-अनुग्रहसे ही मैंने सुना सुगुह्य परम यह योग ।
योगेश्वर प्रत्यक्ष कृष्णने दृढ़ समझाया कर उपयोग ॥

७६

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

७७

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

७८

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

७६

राजन्! कृष्ण और अर्जुनका वह पवित्र अद्भुत संवाद।
बारंबार हर्ष होता है जब जब मैं करता हूँ याद॥

७७

उस अद्भुत हरिके स्वरूपको सुमिर सुमिरकर मुझको आज।
विस्मय और हर्ष ये दोनों फिर फिर होते हैं कुरुराज!॥

७८

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहाँ हैं जहाँ धनुर्धर अर्जुन वर्य।
मेरे मतसे वहाँ सदा श्री, विजय, नीति, शाश्वत ऐश्वर्य॥

अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १८॥

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित पुस्तकें—

तत्त्व-चिन्तामणि (सचित्र)

यह ग्रन्थ परम उपयोगी है। इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्‌में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके बर्तावमें सत्यव्यवहार और सबमें प्रेम, अत्यन्त आनन्द एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। पृष्ठ ४०२, मूल्य ॥।-) स० १)

परमार्थ-पत्रावली (सचित्र)

आपकी लिखी परमार्थसाधनविषयक कुछ चिट्ठियोंका संग्रह। मू० ।)

गीता-निबन्धावली

यह गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये उपयोगी है। पृ० ८८ मू० ≡)॥

गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग

गीताके इन अत्यन्त जटिल विषयोंको बहुत ही सरल और सुबोध बना दिया गया है। सब लोग पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। पृष्ठ ४० मू० -)॥

गीताके कुछ जानने योग्य विषय

इसमें सरल सुबोध भाषामें गीताके कुछ विषय समझानेकी चेष्टा की गयी है। मोटे टाइपमें छपी हुई, पृष्ठ-संख्या ४२ मूल्य -)॥

सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय

साकार और निराकारके ध्यानादिका रहस्यपूर्ण भेद और सरल विधि जाननेके इच्छुकोंको इसे पढ़नेके लिये हमारा विशेष अनुरोध है। मूल्य -)॥

प्रेमभक्तिप्रकाश (सचित्र)

इसमें भगवान्‌के प्रभावका प्रार्थनाके रूपमें कथन तथा साकार ईश्वर-की मानसिक पूजा आदिका बड़ी रोचक शैलीसे वर्णन किया है। मूल्य -)

त्यागसे भगवत्प्राप्ति

गृहस्थमें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागोंके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। मोक्षमन्दिरकी प्राप्तिके लिये पथप्रदर्शक है। मू० -)

भगवान् क्या हैं ?

इस पुस्तकमें परमार्थ-तत्त्व भर देनेकी चेष्टा की गयी है। मूल्य -)

धर्म क्या है ?

नामसे ही पुस्तकके विषयका पता लग जाता है। मूल्य)।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और सम्पादित कुछ पुस्तकें

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-टीका-सहित पृष्ठ ४५०, चित्र ३ सुनहरी, २ रंगीन, १ सादा मू० १) सजिल्द १।)

तुलसी-दल—इसमें इतने विषय हैं कि यह छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक, विद्वान्-मूर्ख, ज्ञानी-गृहस्थी और त्यागी सबके लिये कुछ-न-कुछ अपने मनकी बात मिल सकती है। पृ० २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ॥=)

भक्त-बालक—इसमें गोविन्द, मोहन, धन्नाजाट, चन्द्रहास और सुधन्वाकी भक्ति-रससे भरी हुई कथाएँ हैं ५ चित्र पृ० ८०, मू०।-)

भक्त-नारी—इसमें शबरी, मीरा, जना, करमैती और रबियाको प्रेमभक्तिसे पूर्ण बड़ी ही रोचक कथाएँ हैं। ६ चित्र पृ० ८०, मू० ।-)

भक्त-पञ्चरत्न—इसमें रघुनाथ, दामोदर और उसकी पत्नी, गोपाल, शान्तोबा और उसकी पत्नी और नीलाम्बरदासके परम पावन चरित्र हैं। पृ० १०४, सचित्र मूल्य ।-)

पत्र-पुष्प—(सचित्र, कविता-संग्रह) पृष्ठ-संख्या ६६, मू० ≡)॥

मानव-धर्म—इसमें धर्मके दस लक्षणोंपर अच्छा विवेचन है। मूल्य ≡)

साधन-पथ—सचित्र पृष्ठ ७२, मूल्य =)॥

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी—नये संस्करणमें १ तिरंगा चित्र भी है। पृ०५६, मू०≢)

आनन्दकी लहरें—इसमें हम दूसरोंको सुख पहुँचाते हुए खुद कैसे सुखी हों, यह बताया गया है। मू० -)॥

मनको वशमें करनेके उपाय—एक विष्णुभगवान्का चित्र है। मू० -)।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं। मू० -)

समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया है मू० -)

दिव्य-सन्देश—वर्तमान दाम्भिक युगमें किस उपायसे शीघ्र भगवद्-प्राप्ति हो सकती है इसमें उसके सरल उपाय बताये हैं)।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्य पुस्तकें

आचार्यके सदुपदेश—गोवर्धनपीठाधीश्वर ११०८ जगद्गुरु श्री-शंकराचार्य स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराजके उपदेशोंका संग्रह। मू०-)

माता—श्रीअरविन्दकी Mother नामक पुस्तिकाका हिन्दी-अनुवाद। इस पुस्तकका इतना ही परिचय देना बहुत होगा कि यह श्री-अरविन्दकी विचारधारा या एक प्रिय श्रेष्ठ रचना है। मू० ।)

सप्त-महाव्रत—इसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद और अभय इन सात महाव्रतोंपर महात्मा गाँधीजी द्वारा लिखित बड़ी ही सुन्दर अनुभवपूर्ण व्याख्या है। मूल्य केवल -)

वेदान्त-छन्दावली—इसमें श्रीभोलेबाबाजीके आध्यात्मिक विचार और वेदान्तके विचारणीय प्रश्न और उपदेश हैं, श्रीशुकदेवजीका चित्र भी है। पृ० ७६, मू० =)॥

श्रुतिकी टेर—श्रीभोलेबाबाजी द्वारा सीधी-सादी बोल-चालकी-सी कवितामें लिखी गयी है और दो खण्डोंमें विभक्त है। पृष्ठ-संख्या १५०, मूल्य केवल ।)

चित्रकूटकी झाँकी—इसमें पावन तीर्थ चित्रकूटका और उसके आस-पासके तीर्थोंका विशद वर्णन है। चित्रकूट-सम्बन्धी २२ चित्र हैं। मूल्य ≈)

भागवतरत्न प्रह्लाद—यह पवित्र चरित्र हम माँ, बहिन, बेटी, भाई, भौजाई आदि सबके हाथोंमें बिना किसी संकोचके पढ़नेके लिये दे सकते हैं पृष्ठ ३४०, एन्टिक कागज, सुन्दर साफ छपाई, ३ रंगीन और ४ सादे चित्र, मूल्य केवल १) सजिल्द १।)

देवर्षि नारद—जैसे भगवान्‌के चरित्रोंसे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं वैसे ही नारदजीकी पुण्यमयी गाथाएँ भी हमारे शास्त्रमें ओतप्रोत हैं। उनमेंसे कुछका वर्णन करनेका प्रयत्न किया गया है। मू० ॥(-) सजिल्द १)

भक्त-भारती—हिन्दी कवितामें ७ भक्त—ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी, अम्बरीष, कुन्ती, गजेन्द्र और अजामिलके चरित्रोंका वर्णन किया गया है। प्रत्येक कथाके साथ एक-एक चित्र भी है। छपाई-सफाई बहुत सुन्दर है। मूल्य ।=) सजिल्द ॥≈)

सेवाके मन्त्र—सच्ची सेवा क्या है और सच्चा सेवक कौन है, इस बात-का पता यह छोटी-सी पुस्तिका पढ़नेसे लग जायगा। पृष्ठ ३२, मूल्य)॥

स्वामी भगनानन्दजीकी जीवनी और उनके पद—मूल्य ≈)

हरेराम-भजन—२ माला)॥।

" १४ माला ।≈)

विष्णुसहस्रनाम—मूल मोटे अक्षर)॥। सजिल्द ≈)॥

श्रीहरि-संकीर्तन-धुन)।

लोभमें ही पाप है आधा पैसा

गजल गीता आधा पैसा

(पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र अलग मँगवाइये)

चित्र

अनेक प्रकारके सुन्दर धार्मिक चित्र घर, मन्दिर, बैठकमें लगाने, पूजा-पाठमें रखने योग्य आर्ट पेपरपर छपे हुए सस्ते दामोंमें मिलते हैं।

(चित्रोंका सूचीपत्र अलग मँगवाइये)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र। सालभरमें १४००से अधिक पेज और २०० चित्र। वार्षिक मूल्य ४≡)

(इसमें कमीशन नहीं दी जाती है)

कौन क्या कहते हैं:—

"...मैं इसके भक्ति-विषयक लेखोंको पढ़कर जिस आनन्दकी प्राप्ति करता हूँ, उसका अनुभव मेरा हृदय ही कर सकता है।...ईश्वर करे यह सबका कल्याण साधन करे......"

—हिन्दीके आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी।

"...कल्याणने निकलकर हिन्दी-साहित्यके एक बड़े अङ्गकी पूर्ति की है, अबतक धर्म और दर्शन-विषयक इतना सुन्दर और सुसम्पादित पत्र जहाँतक मैं जानता हूँ, कोई न था।......"

—रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

"हिन्दीके अध्यात्म-ज्ञान और भक्ति-क्षेत्रमें 'कल्याण' जो कार्य कर रहा है वह अनुपमेय है। अपने विषयका यह बिलकुल अनोखा पत्र है। सुन्दर लेख-चयन और अच्छी छपाई-सफाईके साथ साथ विज्ञापन न छापनेके आदर्शका पालन करते तथा प्रतिवर्ष एक इतना सुन्दर विशेषांक निकालते हुए भी वह सिर्फ ४≋) वार्षिकमें अपने पाठकोंके हृदयमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी जो सुरसरि बहाता है वह सर्वथा प्रशंसनीय है × × आशा है कि हिन्दीके पाठक ऐसे अच्छे पत्रको खूब अपनायेंगे।"

'प्रताप' (कानपुर)

कल्याणके विशेषांक

भगवन्नामांक

पृष्ठ ११० और रंग-बिरंगे ४१ चित्र हैं। मूल्य डाक-महसूल-सहित ११≡) सजिल्द १≡)

गीतांक

पृष्ठ-संख्या ५०६, चित्र-संख्या १७०, मूल्य डाक-महसूल-सहित २॥≡) सजिल्द ३≡)

श्रीरामायणांक

दूसरा संस्करण

केवल ५००० छपा है, मूल्य डाक महसूल-सहित २॥≡) ही रक्खा गया है। जिन सज्जनोंकी माँग लौटा दी गयी थी, वे अब मँगवा सकते हैं। पृष्ठ पाँच सौ से ऊपर और सैकड़ों चित्र हैं।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइंडिंग सब सुन्दर हैं।

रामायणांकमें श्रीरामजीकी लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र हैं।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुबारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः खरीदनेमें शीघ्रता कर सकते हैं।

श्रीकृष्णांक

पृष्ठ-संख्या ५२३, चित्र-संख्या १००, मूल्य डाक-महसूल-सहित २॥≡) सजिल्द ३≡)

कल्याणकी पुरानी फाइलोंके लिये लिखकर पूछिये।

पता—कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर